जैन भारती

वर्ष 55 • अंक 1 • जनवरी, 2007

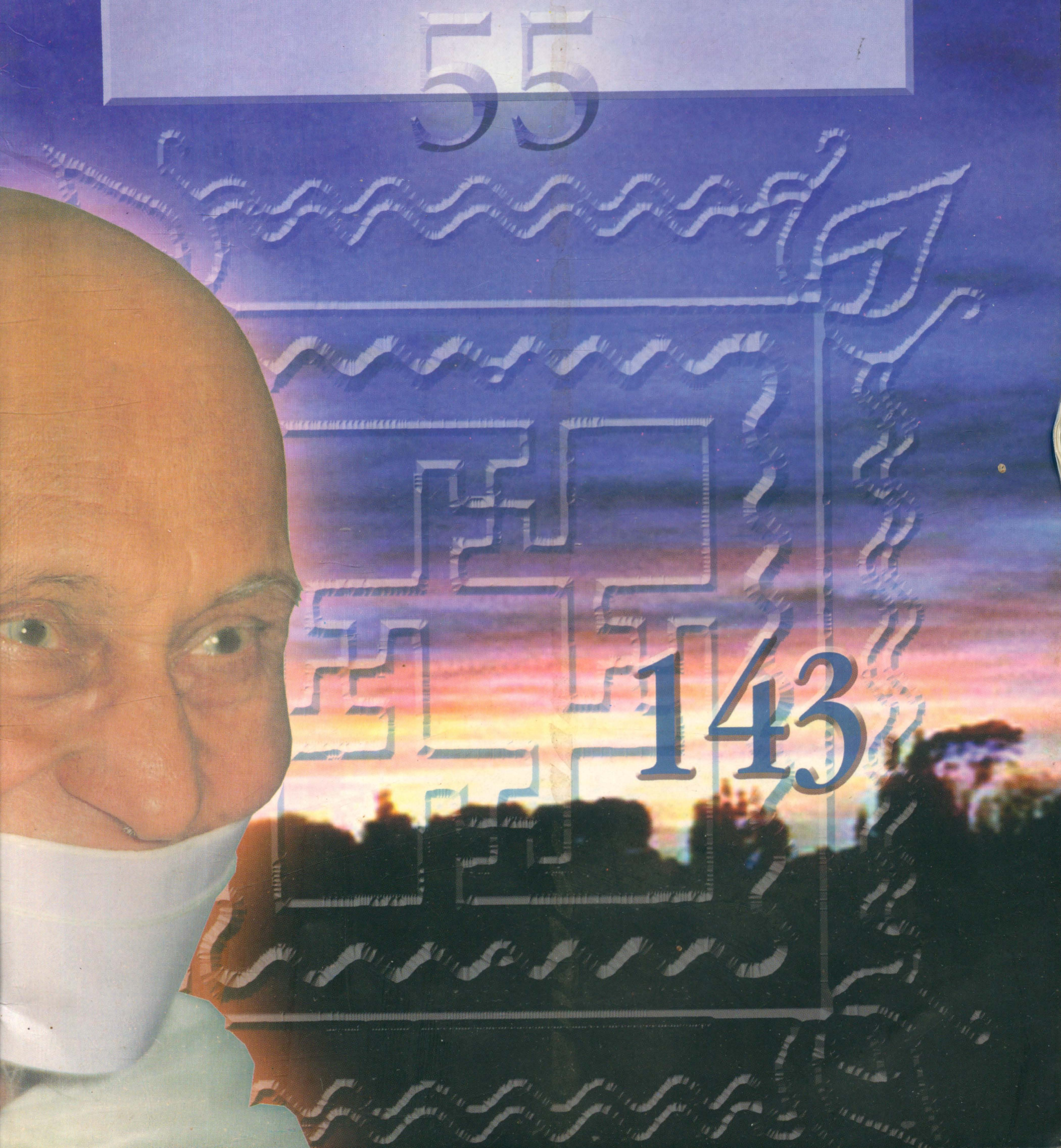

With best compliments from :

HTC TRADING PVT. LTD.

16, Bonfields Lane, KOLKATA 700001

Phones : 242-6141/9857/9426/9923

Fax : 91-33-2422004

e-mail : sirohia@mail.com

Wholesale Distributors & Dealers in

All Types of Tea Garden Stores, Spares, Agrochemicals, Growth Promoters, Jute-Zipper Bags, Coates-Rhino Stencil Ink Cutter Chaser, Nettlon Mesh, G-I Goat Proof Fencing, HM-HDPE Sleeves, Iron Materials, Neemcake, Cement, Coal.

1. Pesticides, Insecticides, Weedicides, Fungicides.
2. Micro Nutrients, Growth Promoters, Bio-Nutrients, Fertilizers.
3. Jute Canvas Bags, Zipper Bags, Poly Pouches.
4. H.M. Liners, Polythene Sleeves, Nursery Shades.
5. Welded Mesh, Wire Mesh, Nettion, Structural Materials.
6. Ball & Roller Bearings, CTC Segments, CTC Cutters & Chasers, V-Belts, Weighing Scale.
7. Power Operated Bolo & Hand Operated Backpack Napsack Sprayers & Spares Parts.
8. Nylon Leaf Carrying Bags, Coir Leaf Bags & Plastic Basket.

For Your Requirements of Spare Parts for

1. Dryer, Heaters, Sorting Machines, Rolling Table, CTC Machines, Rotorvane, Miracle Grinder, Fluid Bed Dryers, ECP, Super ECP, Quality, Empire, Paragon Venetion.
2. C.I. Stove Tubes (Tested) Economiser Tube & Fire Bar.

Authorised Distributors & Dealers in Pesticides & Fertilizers of :

- ANKAR
- AVENTIS
- BASF
- BAYER
- CHEMINOVA
- DE-NOCIL
- EXCEL
- FCI
- GODREJ AGROVET
- HFC
- INDOFIL
- INDIAN POTASH
- NORTHERN
- RALLIS
- SPIC
- SHAW WALLACE
- SUVOCHEM
- SYNGENTA
- T STANES
- UPL
- WOCKHARDT

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 55 • जनवरी, 2007 • अंक 1

प्रसंग

7
शुभू पटवा
लोकतंत्र और मर्यादा

विमर्श

11
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
साधुत्व की तेजस्विता

16
जैनेन्द्रकुमार
गांधी : कर्म में नहीं, अकर्म में

21
साध्वी निर्वाणश्री
मन : दार्शनिक–मनोवैज्ञानिक पहलू

अनुभूति

27
युवाचार्यश्री महाश्रमण
साधुत्व की शोभा : पांच महाव्रत

30
मुनि जयकुमार
इच्छा : नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि

33
कहानी
हरमन हेस
केवट

40
कविता
सरोजकुमार की कविताएं

शीलन

49
साध्वी विश्रुतविभा
आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि

53
समणी सत्यप्रज्ञा
गणोऽयमहमेवास्मि अहमेव गणोऽस्त्ययम्

55
बालकथा
चित्रा मुद्गल
अनुभव का फल

•

आवरण
अडिग

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

हमें क्रिया से क्या मतलब

कोई अज्ञानी कहता है—'हम तो रजोहरण और मुखवस्त्रिका को वंदना करते हैं, हमें क्रिया से क्या मतलब?'

इस पर स्वामीजी बोले—यदि रजोहरण को वंदना करने से कोई तरता है, तो रजोहरण तो ऊन से बनता है और ऊन भेड़ से पैदा होती है। यदि रजोहरण को वंदना करने से कोई तरता है, तो उसे भेड़ के पैर पकड़ने चाहिए—हे माता! तू धन्य है, तुमसे रजोहरण बनता है।

और यदि मुखवस्त्रिका को वंदना करने से कोई तरता है, तो मुखवस्त्रिका होती है कपास से और कपास 'बनी' से बनता है। यदि मुखवस्त्रिका को वंदना करने से कोई तरता है, तो उसे 'बनी' को वंदना करनी चाहिए—तू धन्य है, तुमसे मुखवस्त्रिका होती है।

चौधराहट में तो खींचातान बहुत है

साधुपन स्वीकार कर उसे नहीं पालते और साधु का नाम धराते हैं, इस पर स्वामीजी ने दृष्टांत दिया—एक खरगोश के पीछे दो बघेरे दौड़े। खरगोश भाग कर अपनी खोह में घुस गया। आगे वहां लोमड़ी बैठी थी। उसने पूछा—'तेरा सांस धोंकनी बन रहा है, तू दौड़े-दौड़े क्यों आया?'

खरगोश चालाक था। वह बोला—'जंगल में जानवर इकट्ठे होकर मुझे चौधराहट दे रहे थे। पर मैं उसे स्वीकार नहीं करना चाहता था, इसलिए भाग कर यहां आ गया हूं।'

तब लोमड़ी बोली—'चौधराहट में तो बड़ा स्वाद है।'

तब खरगोश बोला—'तेरा मन हो तो तू उसे स्वीकार कर ले। मुझे तो नहीं चाहिए।'

तब लोमड़ी चौधराहट लेने बाहर निकली। बाहर दोनों बघेरे खड़े थे। उन्होंने उसके दोनों कान खींच लिए। तब लहूलुहान होकर वापस भीतर आई।

तब खरगोश ने पूछा—'वापस क्यों आई?'

तब लोमड़ी बोली—'चौधराहट में खींचातान बहुत है। दोनों कान चले गए इसलिए वापस आई हूं।'

इसी प्रकार साधुपन स्वीकार कर उसे अच्छी तरह नहीं पालते, दोष लगाते हैं, प्रायश्चित्त नहीं करते और साधु का नाम धराते हैं, लोगों में पूजाते हैं, वे इहलोक और परलोक में लोमड़ी की भांति खराब होते हैं, नरक और निगोद में गोता लगाते हैं। •

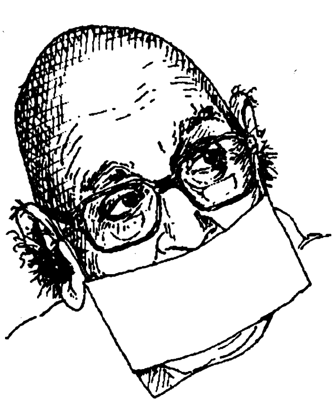

'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं'—आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने की बात सीधी तो नहीं है, पर महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतः मनुष्य की वृत्ति यह होती है कि वह दूसरों को देखता है। दूसरों का जो भाव या व्यवहार उसे ठीक नहीं लगता, उसी भाव या व्यवहार में स्वयं बहता है तो उसे कुछ भान ही नहीं रहता। संभव है, वह अपने बारे में इतना आश्वस्त हो जाता है कि उसका कोई काम गलत होता ही नहीं। यही वह बिंदु है, जहां से बदलाव की दिशा बंद हो जाती है।

स्वभाव-परिवर्तन का सूत्र है—विनिवर्तना। विनिवर्तना का अर्थ है निषेधात्मक भावों से अप्रभावित रहने का संकल्प। इस संकल्प की स्वीकृति के साथ ही ऐसा पुरुषार्थ शुरू हो जाता है, जो पहले से प्रभावी भावों को निर्वीर्य बना सके, उनसे छुटकारा दिला सके। इसके लिए गंभीर पर्यालोचन की अपेक्षा रहती है। अपने भीतर झांकने वाला व्यक्ति ही यह बोध पा सकता है कि उसमें कौन-सा भाव अधिक सक्रिय है।

—आचार्यश्री तुलसी

अतीतकाल में जितने अर्हत हो चुके हैं, भविष्य में जितने होंगे और यह कहा जा सकता है कि जितने अर्हत वर्तमान में हैं—उन सबका आधार शांति है, जैसे प्राणियों का आधार पृथ्वी है। जिस प्रकार धरती हमारे लिए आधार-स्वरूप है, हम धरती पर टिके हुए हैं; उसी प्रकार जो अतींद्रियज्ञानी हैं, केवलज्ञानी हैं—उनका बुद्धत्व और केवलज्ञान शांति पर टिका हुआ है। शांति नहीं हो तो केवलज्ञान हो ही नहीं सकता। न केवल केवलज्ञान, अपितु सम्यक् दर्शन भी एक सीमा तक शांति पर ही आधारित होता है। शांति नहीं है तो सम्यक्त्व भी समाप्त हो जाता है। श्रावकत्व को भी शांति चाहिए, साधुत्व को भी शांति चाहिए और बुद्धत्व को भी शांति चाहिए। आदमी को शांति-संपन्न बनने के लिए अथवा मोक्ष-प्राप्ति के लिए मृदु व्यवहार-संपन्न बनना होगा और चंडालोचित कार्य या चंड-व्यवहार को त्यागना होगा।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

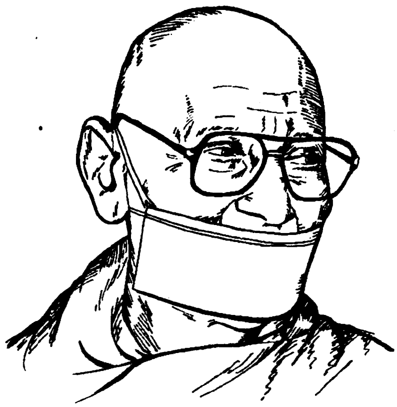

जैन दर्शन ने समानता का सिद्धांत प्रभावी रूप से प्रस्तुत किया है। प्रत्येक प्राणी समान है। लोकतंत्र का आधारभूत सिद्धांत भी यही है कि प्रत्येक नागरिक समान है। समानता के इस सिद्धांत का जहां भी अतिक्रमण होता है, वहां विरोध और विद्रोह की स्थिति बन जाती है। यह समस्या है कि व्यक्ति दूसरे के अधिकार को मान्यता नहीं देना चाहता। जहां ऐसी स्थिति प्रबल स्तर पर है, वहां लोकतंत्र विकसित नहीं हो सकता। जहां असमानता प्रबल है, वहां असहिष्णुता का भाव प्रखर हो जाता है और मानवीयता बिखरने लगती है। मानवीय संबंधों का ऐसा बिखराव लोकतंत्र के स्वास्थ्य को लील जाता है। जहां समानता है, वहां सहिष्णुता भी है। जहां सह-अस्तित्व है, वहां भी सहिष्णुता है। सहिष्णुता का विकास समानता की चेतना के उन्नयन से ही संभव है।

लोकतंत्र को आज इसीलिए महत्त्व मिला कि उसमें समानता का सिद्धांत प्रतिष्ठित है। प्रत्येक व्यक्ति समानता में रहना पसंद करता है। वह प्रत्येक व्यक्ति को प्रिय है। जहां थोड़ी भी असमानता आती है, चित्त में उद्वेग और विक्षोभ पैदा हो जाते हैं। इसीलिए समानता को लोकतंत्र का आधार माना गया है।

इतना होते हुए भी लोकतंत्र परिपूर्ण नहीं है। परिपूर्णता निरपेक्ष अवस्था में ही हो सकती है। आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं। वे परिपूर्ण हैं, किंतु आत्मा मनुष्य बन जाए तो वह परिपूर्ण नहीं, क्योंकि वह सापेक्ष है। जो असंख्य प्रदेश हैं, वे निरपेक्ष हैं—वही आत्मा की सत्ता है। वेदांत का ब्रह्म निरपेक्ष है—परिपूर्ण है। किंतु माया और प्रपंच परिपूर्ण नहीं हो सकते। जहां परिपूर्णता नहीं है, वहां समस्या और समाधान—दोनों साथ-साथ चलेंगे।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

लोकतंत्र और मर्यादा

समाज हो या कि राष्ट्र—सबकी अपनी मर्यादाएं होती हैं। यह जीवन—प्राणीमात्र का—भी यदि मर्यादाविहीन हो, तो उसे मूल्यहीन ही कहा जाएगा। प्राणी जगत में 'मनुष्य इकाई' सबसे अधिक विकसित है। उसकी मेधा और ऊर्जा की तुलना नहीं हो सकती। उसकी क्षमता और दक्षता भी अपार कही जा सकती है। अतः मर्यादा की बात भी 'मनुष्य इकाई' के लिए ही सर्वाधिक रूप से जरूरी है। उसके अमर्यादित होने से ही अनेक प्रकार की विषमताएं पैदा हुई हैं और इनके भिन्न-भिन्न रूप हम आज समाज में देख रहे हैं और बहुत हद तक भुगत भी रहे हैं। ये विषमताएं अमर्यादित जीवन का ही प्रतिफल हैं।

जिस तरह 'मनुष्य इकाई' के लिए मर्यादा का महत्त्व है, ठीक उसी तरह समाज और राष्ट्र के लिए भी मर्यादा का मोल है। मर्यादाहीन व्यवस्था कभी टिकी नहीं रह सकती। राज्य-व्यवस्था के लिए भी ऐसा कहा जा सकता है। यह अब सर्वमान्य हो गया है कि लोकतंत्र एक श्रेष्ठ राज्य-व्यवस्था है। विश्व-भर के राजनीतिक पंडित इस बात को स्वीकार कर चुके हैं कि लोकतंत्र से बेहतर राज्य-व्यवस्था समझ से परे है। लोकतंत्र के मानी एकदम स्पष्ट हैं। संपूर्ण व्यवस्था जन के हाथ में रहे, कोई निरंकुश न हो सके और हर एक मनुष्य को स्वाभिमान व समानता से जीने के अवसर मिलें—लोकतंत्र के मानी ये ही हैं। हम पाते हैं कि किसी भी राज्य-व्यवस्था में इन सबके लिए क्षीणतम संभावना प्रतीत होती है। जबकि लोकतंत्र में इनके लिए अधिकतम संभावनाएं विद्यमान हैं। फिर भी कई बार यह सुनने-देखने को मिलता है कि लोकतंत्र पटरी से उतर गया है, पर हम पाते हैं कि उसे फिर से पटरी पर ले आने में भी 'लोकतंत्र' ही सर्वाधिक कारगर सिद्ध होता है। लोकतंत्र पटरी से न उतरे, इसके लिए लोकतंत्र की भी कुछ अनिवार्य मर्यादाएं होनी चाहिए। ये मर्यादाएं जब तक जन-जन के दैनंदिन जीवन का अंग न बनें, तब तक इनकी अर्थवत्ता प्रकट नहीं हो सकती। बहुत-सी बातें सिद्धांत के स्तर पर तर्कसम्मत और महत्त्वपूर्ण होती हैं, पर व्यवहार-गत रूप में उनका असर नजर नहीं आता। जबकि सिद्धांत और व्यवहार के मध्य समतुल्यता जहां होती है, वहां उनका प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

सांगठनिक स्तर पर मर्यादाओं का ऐसा प्रभाव हम तेरापंथ धर्मसंघ में देख सकते हैं। इस संघ को अस्तित्व में आए कोई 247-248 वर्ष होने आए हैं, जबकि संघ की मर्यादाओं के सार्वजनिक स्मरण के लिए हर साल जो उत्सव होता है, उसे भी 143 वर्ष होने जा रहे हैं। तेरापंथ का यह सबसे बड़ा व सर्वाधिक महत्त्व का उत्सव है। हर साल माघ शुक्ला सप्तमी को यह उत्सव 'मर्यादा महोत्सव' के रूप में होता है। पिछले कई वर्षों से माघ शुक्ला पंचमी (वसंत पंचमी) से इसकी शुरुआत हो जाती है और मुख्य महोत्सव सप्तमी को होता है। 'माघ महोत्सव' के नाम से भी यह उत्सव लोगों की स्मृति में जगह बना चुका है। हम स्मरण करें और थोड़ी नजर घुमाएं तो पाते हैं कि मर्यादा के लिए उत्सव मनाना एक विरल घटना है। यह तेरापंथ में ही है।

तेरापंथ का आधार 'चौखंभा' है—(1) साधु, (2) साध्वी, (3) श्रावक और (4) श्राविका।

साधु-साध्वीगणों के लिए निर्धारित मर्यादाओं का पाठ हर पंद्रह दिन में अनिवार्य होता है, जिसे संघीय भाषा में 'हाजिरी' कहते हैं। श्रावक-श्राविका—जो इस चौखंभा व्यवस्था के मजबूत आधार हैं—की साक्षी और बहुत हद तक उनकी संलग्नता भी इसमें रहती है। जबकि माघ शुक्ला सप्तमी को हर वर्ष होने वाला मुख्य 'मर्यादा महोत्सव' व्यापक स्तर पर मनाया जाता है। अपनी मर्यादाओं को दोहराना और उन पर अविराम, अडिग टिके रहने का पुनः संकल्प प्रकट करना इस 'महोत्सव' का मुख्य उद्देश्य है। यह तो होता ही है, यह भी होता है कि जो मर्यादाएं स्वीकार्य हैं, उनकी समीक्षा और अपेक्षानुसार उनके परिष्कार पर भी गहन विचार होता है।

यदि केवल एक धर्मसंघ की दृष्टि से यह सब देखें तो हम पाते हैं कि एक आचार्य के अनुशासन में रहना एकतंत्रीय व्यवस्था का ही दिग्दर्शन है, पर अगर दृष्टि का फलक फैला कर देखा जाए तो पाएंगे कि 'एकतंत्रीय व्यवस्था' में भी आंतरिक लोकतंत्र की ज़ड़ें मजबूत और गहरी हैं। मर्यादाओं का इस तरह पुनरावलोक आतंरिक लोकतंत्र को सुदृढ़ बनाए रखने का असरदार माध्यम है और प्रकारांतर से एक आचार्य का अनुशासन 'स्वशासन' के रूप में अपना आधार ग्रहण कर लेता है। इस तरह हर क्रिया और हर कर्म में समतुल्यता दिखाई देती है। वह न थोपी हुई या जबरन होती है और न किसी तरह की विवशता नजर आती है। सब-कुछ स्वपोषित, स्वनिर्मित-सा दिखाई देता है और यह क्रम निरंतर सुदृढ़ता पाता रहता है।

यह मानना इन स्थितियों को संकीर्ण दायरे से देखना होगा कि एक धर्म-संगठन में यह व्यवस्था फलीभूत हो सकती है; अन्यत्र नहीं। यह प्रयोग यदि 143 वर्षों से एक जगह सफलता से चल रहा है, तो अन्यत्र भी चलाया जा सकता है। बेशक, दायरे के अंतर के अनुरूप इसके क्रियान्वयन की प्रणाली अलग तरह की होगी। बुनियादी रूप से एक सिद्धांत यदि एक जगह सिद्ध हो जाए तो वह अन्यत्र भी विचारणीय रहना चाहिए। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जैसे मनीषी सिद्धांतों के साथ उनका अभ्यास व आचरण जरूरी मानते हैं। वे आत्मानुशासन को महत्त्वपूर्ण मानते हुए कहते हैं—'कानून कम और आत्मानुशासन अधिक, यह है लोकतंत्र का स्वरूप।' वे स्वीकार करते हैं कि यदि वह है तो—'लोकतंत्र विफल नहीं हो सकता।' महात्मा गांधी भी यही बात कहते हैं—'जन्मजात लोकतंत्रवादी जन्म से ही अनुशासन का पालन करने वाला होता है।'

लोकतंत्र पर सोचते हुए यह बात भी सामने आ जाती है कि लोकतंत्र में जो दलीय राज्य-व्यवस्था हम देख रहे हैं, उसके प्रति समीचीन चिंतन क्या होना चाहिए। गांधीजी कहते हैं—'जो लोग लोकतंत्र की सेवा करने के इच्छुक हैं, उन्हें चाहिए कि पहले वे लोकतंत्र की किसी कसौटी पर अपने को परख लें।...उसे अपनी या अपने दल की दृष्टि से नहीं, बल्कि एकमात्र लोकतंत्र की दृष्टि से सब-कुछ सोचना चाहिए।' महात्मा गांधी आगे कहते हैं—'व्यक्तिगत स्वतंत्रता की मैं कद्र करता हूं, लेकिन आपको यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य मूलतः एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओं के अनुसार अपने व्यक्तित्व को ढालना सीख कर ही मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति तक पहुंचा है। अबाध व्यक्तिवाद वन्य पशुओं का नियम है। हमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक संयम के बीच समन्वय करना सीखना है। समस्त समाज के हित के खातिर सामाजिक संयम के आगे स्वेच्छापूर्वक सिर झुकाने से व्यक्ति और समाज—जिसका व्यक्ति एक सदस्य है—दोनों का कल्याण होता है।'

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी भी इसी तरह की बात कहते हैं। वे कहते हैं—'व्यक्तिगत स्वतंत्रता लोकतंत्र का प्राण है।' और फिर लोकतंत्र के मूल्यों को फलित हुआ देखने के लिए अहिंसा के प्रयोग की बात भी वे बताते हैं। अहिंसा के पांच मौलिक सूत्र बताते हैं—स्वतंत्रता, सापेक्षता, समन्वय, सहअस्तित्व और समानता। वे इनको ही लोकतंत्र का अस्तित्व मानते हैं। महात्मा गांधी और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के उपरोक्त मंतव्यों की साम्यता स्पष्ट परिलक्षित हो रही है। जाहिर है कि एक धर्म-संगठन की मर्यादाओं और लोकतंत्रीय राज्य-व्यवस्था की मर्यादाओं में भेद रेखा नहीं खींची जा सकती। इसीलिए हमारा मत है कि 143 वर्षों से जांचे-परखे प्रयोग को व्यापक स्तर पर लागू करके देखना वांछनीय होगा।

यह सुयोग कहना चाहिए कि भारत अपना गणतंत्र दिवस (26 जनवरी) और तेरापंथ अपना मर्यादा-महोत्सव (25 जनवरी) साथ-साथ मनाने वाले हैं। भारत-भूमि के सुधी-जनों के लिए यह सुअवसर है कि हम लोकतंत्र और मर्यादा पर खुली आंख से विचार करें।

—शुभू पटवा

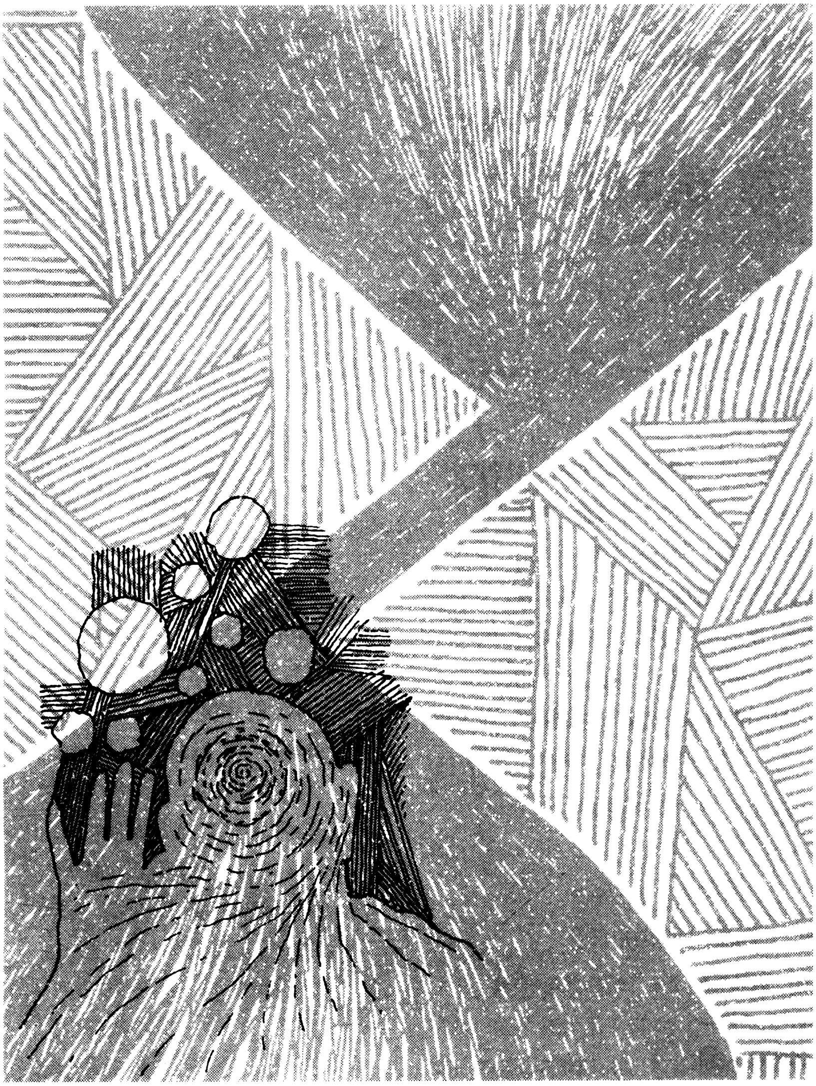

विमर्श

भारतीय संस्कृति में आज भी—समस्त विकृतियों के बावजूद वे तत्त्व मौजूद हैं, जिनके रहते मनुष्य को कभी इतनी स्पर्धा और अहं-केंद्रित अभिमान नहीं हुआ कि प्रगति की लालसा में वह उस सृष्टि का ही संहार कर दे, जिसमें मनुष्य ने न केवल दूसरे प्राणियों से, बल्कि अपने भौगोलिक परिवेश से नाता जोड़ा है। दरअसल इस नाते में ही मनुष्य ने अपने को पहचाना है; संस्कृति का जन्म ही 'मैं और अन्य' की इस रहस्यमय, पवित्र और उत्सुक पहचान के बीच हुआ है। जब मनुष्य अपने अहं की खातिर अन्य को नष्ट कर देता है, तो उसका 'मैं' भी सर्वथा अर्थहीन, मूल्यहीन, गौरवहीन हो जाता है।

—**निर्मल वर्मा**

साधुत्व की तेजस्विता

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

भारतीय परंपरा में संन्यास और साधुत्व श्रद्धा और आस्था का पर्याय माना जाता है। पर, साधुत्व की कसौटियां क्या हैं और उसकी तेजस्विता कैसे फलित होती है—यह जानना आज के समय का तकाजा है। तेरापंथ धर्म संघ के अधिष्ठाता के नाते आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इन बिंदुओं पर निरंतर विचारशील रहते हैं। अपने अनुगामियों को भी इस ओर सचेष्ट करते रहते हैं। तेरापंथ का 'मर्यादा महोत्सव' भी इन्हीं विचारों का एक अंग है। 142 वर्षों से यह महोत्सव आयोजित होता आ रहा है, जब 'तेरापंथ' अपनी आंतरिक समीक्षा करता है। अवसर विशेष पर प्रासंगिक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का यह आलेख जैन भारती के पाठकों के लिए—

'साधु' शब्द शब्दकोश का एक महती शब्द है। शब्दकोश में लाखों शब्द होते हैं। उनका संबंध वस्तुजगत से ज्यादा है, साधना से कम है। सारी प्रवृत्तियों के बीच निवृत्ति को खोजा जाए तो वह है—साधु। एक ओर पदार्थ जगत तथा दूसरी ओर अपदार्थ जगत। पदार्थ के प्रति बहुत आकर्षण रहता आया है। यही आकर्षण राग-द्वेष का हेतु बनता है। अपदार्थ से तात्पर्य है—चेतना। इसका ध्यान वीतरागता की ओर ले जाता है। इसीलिए साधु शब्द संयम का पर्याय है, त्याग और वैराग्य का पर्याय है, समता का पर्याय है।

भारतीय साहित्य में गुरु का भी बहुत महत्त्व बताया गया है। कहा गया है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः, गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म, तस्मै श्री गुरवे नमः।।

इसी तरह साधु का भी बहुत महत्त्व है। गुरु और साधु होना कोई सरल बात नहीं है। बहुत दुरूह है। जब भरत के दूत ने बाहुबली से कहा कि भरत आपका गुरु है। उसका विनय करना चाहिए, तो बाहुबली ने जो कहा, वह बड़े मर्म की बात है—

गुरुः प्रशस्यो विनयी, गुरुर्यदि गुरुर्भवेत्।
गुरौ गुरुगुणैर्हीने, विनयोऽपित्रपास्पदम्।।

गुरु के प्रति विनम्र होना चाहिए। किंतु, गुरु में वैसी गुरुता भी होनी →

हम आचार और संयम को भी ठीक से समझने का प्रयत्न करें। संयम अलग है और आचार अलग है। अलबत्ता सब आपस में जुड़े हुए हैं। संयम का संबंध हमारी इंद्रियों से और मन से अधिक है। जबकि आचार का संबंध क्रियाओं और अक्रियाओं से है। क्या करना है और क्या नहीं करना है—इस बात से उसका ज्यादा संबंध है। इसी तरह पांच समितियां हैं और तीन गुप्तियां। हमारी विधि है कि प्रवृत्ति करो, क्योंकि प्रवृत्ति के बिना जीवन नहीं चलता। चलो, खाओ, बोलो, वस्तुओं को लो, रखो और शारीरिक क्रिया भी करो। ये सारी प्रवृत्तियां हैं। निवृत्ति में है—मन का निरोध करो, वाणी का निरोध करो और शरीर की प्रवृत्ति का भी निरोध करो।

चाहिए। अगर गुरु गुरु के गुणों से हीन है, तो उसके प्रति विनय करना लज्जास्पद होता है। हम यही बात साधु के प्रति भी कह सकते हैं। साधु के प्रति श्रद्धा का भाव होना चाहिए, पर साधु अगर साधु हो तभी। अगर साधु साधु की तरह नहीं है, तो उसके प्रति विनय करना भी कम लज्जा की बात नहीं है। साधुत्व भी बहुत बड़ी बात है।

अतः हमें साधु की कसौटी पर विचार करना चाहिए कि उसके लक्षण क्या हो सकते हैं? जैसे सोने की कसौटी चार प्रकार से होती है—

यथा चर्तुर्भिः कनकं परीक्ष्यते, निघर्षणच्छेदनतापताडनैः।।

सोने को घिसा जाता है, कसौटी पर छेदन किया जाता है, ताप में तपाया जाता है और ताड़ना दी जाती है—तब पता चलता है कि सोना है या वह पीतल है। साधु के लिए भी चार कसौटियां हैं।

पहली कसौटी है—**समता**। उत्तराध्ययन का सुंदर वाक्य है—**समयाए समणो होई।** समता से समण होता है, साधु होता है। हमें देखना है कि साधु में समभाव कितना है? समता कितनी है? समत्व कितना है? बहुत गहराई से चिंतन करें कि हम साधु हैं, तो हम में समभाव का विकास हुआ है या नहीं? साधु हैं, किंतु क्षण-भर में ही उत्तेजना आ जाए, बात-बात में उत्तेजना, आवेश आ जाए और लाभ-हानि में सम नहीं रहें, तो साधु कैसे हुए? मनचाही वस्तु मिली, तब तो प्रसन्न और मनचाही न मिली तो नाराज—यह स्थिति साधु के लिए काम्य नहीं है। साधुत्व का पहला लक्षण है—समभाव या समता। समभाव है, तो समझें अच्छा साधु है और समभाव नहीं है तो समझिए कि अभी साधुत्व में कमी है। उसे तेजस्वी साधु नहीं कहा जा सकता। तेजस्वी साधु वही कहलाएगा जिसमें समताभाव का विकास हुआ है। जिसमें समता की चेतना जाग्रत है।

तेजस्विता के लिए कुछ विशेषताएं चाहिए। हमें जलती हुई आग और बुझी हुई राख—इन दोनों में अंतर करना होगा। जलती हुई आग पर पैर रखकर चलना किसी के लिए संभव नहीं होता। आग बुझकर राख हो गई तो हर कोई उस पर पैर रखकर जा सकता है। साधुत्व होना चाहिए ज्योतिर्मय, ज्वलंत। तेजस्विता का पहला लक्षण है—समता। जिसमें समता का विकास है, जो सुख-दुख में भी सम रह सकता है, कठिनाइयों को झेल सकता है, भिक्षु-विहार में भी रह सकता है और एक झोंपड़ी में भी रह सकता है। वह साधु है। सुख आने पर अहंकार न आए, प्रसन्न भी न हो और दुख की स्थिति में मुरझाए नहीं, कुम्हलाए नहीं—इन दोनों वृत्तियों का विकास साधु में होना चाहिए। वह एक अलौकिक व्यक्तित्व का स्वामी हो। सामान्य स्थिति तो यही है कि लाभ होने पर प्रसन्न और अलाभ की स्थिति में उदासी आ जाती है। निंदा होने पर मुरझा जाना और प्रशंसा होने पर फूल जाना, सम्मान होने पर प्रफुल्लता और अपमान होने पर हताशा—ये सारे द्वंद्व हैं। ये द्वंद्व ही विषमता पैदा करते हैं। समता का अर्थ है—द्वंद्वातीत चेतना। हमारी चेतना द्वंद्वों से परे हो। जो द्वंद्वों से परे है, जो समता की साधना में है—वही तेजस्वी साधु है।

आगम साहित्य में साधुओं की श्रेणी दूज और पूनम के चंद्रमा के समकक्ष बतलाई गई है। एक साधु है जो दूज के चंद्रमा के समान होता है, उसमें बहुत कम कला विकसित होती है और एक पूनम के चंद्रमा के समान होता है, जिसकी कलाएं बहुत विकसित होती हैं। हम इन कसौटियों पर ध्यान दें। तेजस्वी होने के लिए बहुत आवश्यक है—समता का विकास।

साधुत्व की दूसरी कसौटी है—**संयम**। संयम कितना है? संयम की परिभाषा बहुत सुंदर की गई है—**इंद्रियमनोनिग्रहः संयमः**। इंद्रिय और मन के निग्रह करने का नाम है—संयम। जिस साधु में इंद्रिय-निग्रह है, इंद्रियों पर नियंत्रण है और मन पर भी नियंत्रण है, जो इंद्रियों और मन के वश में नहीं है, प्रत्युत् इन्हें अपने वश में कर लेता है—तेजस्विता का यह बहुत बड़ा हेतु है। इसी से तेजस्विता बढ़ती है, इसी से वैराग्यभाव बढ़ता है। वैराग्य बहुत ज़रूरी है। बिना वैराग्य आज साधुत्व के साथ क्या-क्या हो रहा है, यह कोई गुप्त बात नहीं है। साधुत्व है और उसके साथ धन भी है, फिर यह आशा करें कि उनसे समाज का भला होगा—यह दिवास्वप्न है। इन दो बातों के साथ कोई संगति नहीं हो सकती। जिस साधु का धन के साथ किंचित भी संबंध जुड़ जाता है, साधना की बात उसके लिए फिर बहुत कठिन हो जाती है। यही आज की सबसे बड़ी समस्या है।

साधुत्व की तीसरी कसौटी है—**आर्किचन्य।** जिसके पास कुछ भी नहीं है, वह अकिंचन है। मकान या धन आदि के बारे में जिसे कुछ सोचना भी नहीं पड़ता, वही साधु है। आचार्य भिक्षु से जब पूछा गया कि तेरापंथ

कब तक चलेगा? उनका उत्तर था—'जब तक स्थान पर, धर्मोपकरणों पर और शिष्यों पर ममत्व नहीं रहेगा तब तक तेरापंथ चलेगा। जिस दिन इन पर ममत्व शुरू हो गया, उस दिन तेरापंथ का अवसान हो जाएगा। फिर तेरापंथ तेरापंथ नहीं रहेगा, कोई और पंथ बन जाएगा। तेरापंथ तब तक रहेगा, जब तक उपरोक्त में से किसी पर ममत्व नहीं रहेगा। ममत्व बहुत बड़ी समस्या है और आकिंचन्य बहुत बड़ा समाधान है। मेरापन न हो, आकिंचन्य का भाव हो।'

साधुत्व की चौथी कसौटी है—**वैराग्य**। व्यक्ति और सुविधाओं के प्रति राग रहना स्वाभाविक है। सब राग में ही जी रहे हैं। साधु भी वीतरागी नहीं बन पाया है। पर, वैराग्य का एकमात्र लक्ष्य उसके सामने हर क्षण रहना चाहिए। वैराग्य का भाव वास्तव में उस क्षण से आ जाना चाहिए, जब दीक्षार्थी बनने का क्षण हो। उम्र के साथ-साथ वैराग्य भावना बढ़ती जानी चाहिए। यह भी न हो कि दीक्षा के लिए प्रार्थना के समय तो वैरागी रहे और दीक्षित होने के बाद राग में चला जाए। रागी और वैरागी की परिभाषा बदलनी चाहिए। सबसे बड़ी बात यह है कि हमारा वैराग्य निरंतर बढ़ता रहे।

साधुत्व की चार कसौटियों की चर्चा की गई—समता, संयम, आकिंचन्य और वैराग्य। यही हमारी आचारनिष्ठा है। आचार दो तत्त्वों से बनता है—**विधि** और **निषेध**। आचारशास्त्र के ये दो मूल आधार हैं—**न कर्तव्यं** और **एतत् कर्तव्यं**—यह नहीं करना चाहिए और यह करना चाहिए। इसी सीमा में आचार बनता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति पूरे आचारशास्त्र का विषय है। प्रवृत्ति करो और इससे निवृत्त हो जाओ। उत्तराध्ययन में समिति और गुप्ति का विस्तार से वर्णन है। यह साधु का आचार है।

हम **आचार** और **संयम** को भी ठीक से समझने का प्रयत्न करें। संयम अलग है और आचार अलग है। अलबत्ता सब आपस में जुड़े हुए हैं। संयम का संबंध हमारी इंद्रियों से और मन से अधिक है। जबकि आचार का संबंध क्रियाओं और अक्रियाओं से है। क्या करना है और क्या नहीं करना है—इस बात से उसका ज्यादा संबंध है। इसी तरह पांच समितियां हैं और तीन गुप्तियां। हमारी विधि है कि प्रवृत्ति करो, क्योंकि प्रवृत्ति के बिना जीवन नहीं चलता। चलो, खाओ, बोलो, वस्तुओं को लो, रखो और शारीरिक क्रिया भी करो। ये सारी प्रवृत्तियां हैं। निवृत्ति में है—मन का निरोध करो, वाणी का निरोध करो और शरीर की प्रवृत्ति का भी निरोध करो। पांच समितियां और तीन गुप्तियां—ये आठ बिंदु आचार के मुख्य अंग हैं। जबकि आचार का मूल आधार समता ही है। **समया धम्म मुदाहरे मुणी**—तीर्थंकर महावीर ने समता के धर्म का प्रतिपादन किया। हमारी समता कैसे रहे? व्यवहार में आचार के आठ अंग हैं—पांच समितियां और तीन गुप्तियां और इनके प्रति जागरूकता ही हमारी तेजस्विता है।

तेजस्विता की एक कसौटी है—जागरूकता। हम प्रवृत्ति के प्रति कितने जागरूक हैं और निवृत्ति के प्रति भी कितने जागरूक हैं। हमें यह सोचना है कि इनके प्रति हमारी जागरूकता कैसे रहे? क्या हम गुप्ति की साधना कर रहे हैं? बहुत बड़ा विषय है पांच समितियों और तीन गुप्तियों का। हमें इस प्रश्न पर सोचना है। यदि गुप्ति की साधना सम्यक् नहीं है, तो प्रवृत्ति और समिति की साधना भी सम्यक् नहीं होगी। पहले समिति बतलाई जाती है, फिर गुप्ति। पहले प्रवृत्ति, फिर निवृत्ति—यह निरूपण का क्रम है।

शुद्धि का क्रम क्या है? पहले गुप्ति, बाद में समिति। जो साधु या साध्वी कहे कि ध्यान में मन नहीं लगता, इसका तात्पर्य है कि अभी साधुपन में वह रमा नहीं है। कारण स्पष्ट है—मनोगुप्ति का मतलब ही ध्यान है। वैसे तीनों गुप्तियां ही ध्यान हैं—मानसिक ध्यान मनोगुप्ति, वाचिक ध्यान वचनगुप्ति, कायिक ध्यान कायगुप्ति। तीनों ध्यान के ही प्रकार हैं। मूल आचार में तीन गुप्तियां हैं। बिना ध्यान के आचार का शुद्ध पालन नहीं हो सकता। बहुत कठिन है बिना ध्यान के आचार का पालन कर पाना। मनोगुप्ति करें, मन का निरोध करें। मन की हर मांग को पूरा न करना, मन की चंचलता पर नियंत्रण करना—मनोगुप्ति है। जिसकी मनोगुप्ति अच्छी है, जिसने इसका अभ्यास किया है, वह एषणा की शुद्धि कर सकता है। मनोगुप्ति के द्वारा अशुद्ध आहार पर नियंत्रण किया जा सकता है। यह नहीं है, तो आहार के प्रति लोलुपता आ जाती है। इसी तरह वचनगुप्ति से भाषा का विवेक हो सकता है। कायगुप्ति से समितियों का पालन ठीक ढंग से हो सकता है। उत्सर्ग का, आदान निक्षेप का सम्यक् पालन हो सकता है। कायगुप्ति के

अभाव में यह संभव नहीं है। इसलिए यह मान कर चलें कि तीन गुप्तियों की साधना ध्यान की साधना है। इसे अलग मानकर न चलें।

बहुत-से प्राचीन आचार्यों ने सामायिक और ध्यान को एक ही माना है। जो सामायिक है, वही ध्यान है और जो ध्यान है, वही सामायिक है। गुप्ति और ध्यान भी एक ही बात है। त्रिगुप्ति की साधना आचार का महत्त्वपूर्ण अंग है और इसका कारण यह है कि प्रवृत्ति में शोधन करना है। प्रवृत्ति को सम्यक् बनाना है, सही बनाना है—यह निवृत्ति के बिना संभव नहीं है। निवृत्ति है तो प्रवृत्ति सही हो सकती है। निवृत्ति नहीं है तो प्रवृत्ति समुचित नहीं हो सकती। इसलिए हमें सबसे ज्यादा ध्यान देना है निवृत्ति पर। हमारी इसमें जागरूकता रहे। साधु-साध्वियों को कम-से-कम एक घंटा मनोगुप्ति का अभ्यास करना चाहिए। चौबीस घंटे में एक घंटा भी मनोगुप्ति का, ध्यान का अभ्यास नहीं किया तो फिर साधुत्व तेजस्वी नहीं हो सकता। उसमें कमियां आती चली जाएंगी। फिर वह साधुत्व से च्युत होता चला जाएगा। सब साधु-साध्वियां इस बात पर चिंतन करें और यह क्रम प्रारंभ करें।

वचनगुप्ति के अभ्यास के रूप में कुछ लोग मौन करते हैं, कुछ नहीं करते। कोई करे या न करे—मौन का अपना महत्त्व है। बोलते हुए कैसे बोलना है—इसका ज्यादा महत्त्व है। कहा गया कि एक साधु मौन करता है, किंतु जब बोलता है—तब मौन की धज्जियां उड़ा देता है। घंटा-दो घंटा तो मौन करता है और फिर जब बोलता है तो आवेश और कटुता में बोलता है तब उसके मौन का कोई अर्थ ही नहीं रहता। एक साधु ऐसा है, जो मौन नहीं करता, किंतु बहुत जागरूकता और विवेक के साथ बोलता है। इस पर निर्युक्तिकार ने कहा—**दिवसम्मि भासमाणो न भासे।** दिन-भर बोलता है, फिर भी वह मौनी है। दो-तीन घंटे मौन के बाद जो कटु, कर्कश और विवेकहीन भाषा में बोलता है—वह अमौनी है। मौन का अर्थ है—वाणी का विवेक। यह ज्ञान हो कि क्या और कैसे बोलना है। यह भाषा समिति का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है कि कैसे बोलना है। क्या बोलना है। कब बोलना है। कहां बोलना है। आदि-आदि।

आहारशुद्धि का भी बहुत महत्त्व है। इतने खाद्य पदार्थ हैं कि बाजार में चले जाएं तो मन ललचा जाए। बच्चे तो क्या, बड़े-बूढ़े भी खाने को आतुर हो जाते हैं। इतनी-सारी चीजें खाने के कारण ही बीमारियां बढ़ रही हैं। एक सुंदर सूत्र है—द्रव्य संयम। कम से कम द्रव्य खाओ—यह बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इसमें त्याग है, वैराग्य है और साथ-साथ स्वास्थ्य भी है। अगर कोई पूछे कि आपका स्वास्थ्य कहां है? क्या जवाब होगा? स्वास्थ्य है हमारे आहार के साथ। आहार अनुकूल है तो हमारा स्वास्थ्य सुरक्षित है। आहार अनुकूल नहीं है तो फिर डॉक्टर या वैद्य स्वास्थ्य नहीं दे सकते हैं। चिकित्सा की कोई प्रणाली स्वास्थ्य की रक्षा नहीं कर सकती है। न परिवार और कुटुंब ही उसे बचा सकते हैं।

आहार के बारे में केवल इतना ही पर्याप्त न मानें कि एक साधु ने गृहस्थ से पूछताछ कर ली कि किसलिए बनाया? क्यों बनाया? इतनी ही एषणा नहीं है। यह तो ग्रहणैषणा है। दो शब्द होते हैं—ग्रहणैषणा और पिंडैषणा। ग्रहण की एषणा में तो थोड़ी जागरूकता है, किंतु पिंडैषणा में जितनी जागरूकता होनी चाहिए—उसकी चर्चा भी शायद नहीं की जाती, उसका महत्त्व नहीं आंका जाता। जबकि सारा महत्त्व ही इसी बात पर है। ग्रहणैषणा में लेते समय ध्यान देते हैं। खाते समय ध्यान दें—यह पिंडैषणा है। हम उसमें जागरूक रहें तो तेजस्विता वृद्धिंगत होती है।

आकर्षण कहां होता है? वेश या रूप पर नहीं होता, आकर्षण होता है—साधुत्व और उसकी तेजस्विता पर। उसमें बाधा क्या है? पहली बाधा है—**विषम मनोभाव**। दूसरी बाधा है—**असंयम**। इंद्रियों और मन पर संयम नहीं है। तीसरी बाधा है—**त्याग-वैराग्य की कमी**। ये सारे तत्त्व तेजस्विता को कम करने वाले हैं। आज साधु-संस्थाओं की स्थिति का अध्ययन करें तो पाएंगे कि न केवल जैन साधु, अपितु दुनिया में जितने भी प्रकार के साधु हैं—उनकी पहचान बदल गई है। आज बड़े महाराज कौन, बड़ा साधु कौन? जिसके पास पांच सौ करोड़ की संपत्ति है, साधुत्व की यह पहचान या मानदंड बन गया है। लोग कहते हैं—अजी, उनकी क्या पूछते हैं? वे तो बहुत बड़े संन्यासी हैं। तीन सौ एकड़ में तो उनका वातानुकूलित आश्रम है। यह है आजकल 'बड़े' का मानदंड। इस कसौटी, इस मानदंड ने साधुत्व को इतना धूमिल बना दिया कि आग तो बुझ गई, कोरी राख रह गई। प्राचीनकाल में सामान्यतः राजस्थानी दोहों में

कहा जाता था—कंचन कामिनी दोय छै, जग में मोटी होड़। कंचन और कामिनी—ये दो ही कसौटी बन जाते हैं। इन दोनों का संसर्ग है तो साधुत्व की तेजस्विता की बात तो छोड़ दें, साधुत्व ही नहीं रह जाता। इन दोनों से दूरी है तो फिर साधुत्व में तेजस्विता आती है।

हम इन सब बातों पर गहराई से चिंतन करें, हमें तेजस्वी बनना है। महाभारत का एक प्रसंग है। मृदुला ने अपने पुत्र से कहा—'बेटा! तुम चाहे थोड़े दिन ही जीओ, मुझे कोई चिंता नहीं। मैं तुम्हारे सौ वर्ष या इससे भी ज्यादा दिन जीने की कामना नहीं करती, पर धुआं बनकर मत जीओ। जीओ तो ज्योति बनकर, लपट बनकर जीओ, धुआं बनकर मत जीओ।' कितना सुंदर कहा गया है—

मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो, न च धूमायितं चिरम्।

यह मां की सीख है बेटे को, कि क्षण-भर भी जीना है, पर अंगार-सा दहकता जीवन जीना है। धुआं बनकर सौ वर्ष जीना अच्छा नहीं है।

हम ज्योति बनकर जीएं। इसका परिणाम यह होगा कि साधुत्व तेजस्वी होगा और धर्मसंघ भी तेजस्वी बनेगा। धर्मसंघ की तेजस्विता निर्भर है—साधुसंघ पर। हम तेजस्विता के लिए उपरोक्त तीन विषयों पर मनन करें। केवल श्रवण ही नहीं, चिंतन और मनन भी करें कि समता की चेतना कितनी जाग्रत है, समता की चेतना का कितना विकास हुआ है? अपनी कसौटी स्वयं करें। बात-बात पर आवेश तो नहीं आता? वस्तुओं की प्राप्ति और अप्राप्ति पर प्रसन्नता और अप्रसन्नता के भाव तो नहीं आते? इस पर स्वयं चिंतन करें। दूसरी बात— हमारा संयम कितना आगे बढ़ा है? हमारी निग्रह की शक्ति कितनी प्रबल बनी है? इंद्रियों के आवेश और मन की चंचलता पर हमारा कितना नियंत्रण है? इन पर भी विचार करें। त्याग-वैराग्य की स्थिति कैसी है? इस पर भी चिंतन करें।

बहुत आवश्यक है संयम, त्याग, आकिंचन्य और वैराग्य। साधुत्व की इन कसौटियों पर बार-बार मनन करें कि मेरा समताभाव कैसा है? समता रहती है या नहीं। नहीं रहती है तो मुझे अभ्यास करना है और समता का विकास करना है। यह तेजस्विता का चिह्न है। साधुत्व को तेजस्वी बनाने का चिह्न है। दूसरी बात है कि मेरा संयम कैसा है? वह बढ़ा या नहीं बढ़ा? नियंत्रणशक्ति बढ़े, इस पर भी चिंतन करना है। तीसरी बात है आकिंचन्य। इसका भी कितना विकास हुआ है? चौथी बात है त्याग और वैराग्य पर भी चिंतन करना है। खान-पान, उठने-बैठने, बोलने और दैनिक व्यवहार की हर बात में वैराग्य होना चाहिए। इससे साधुत्व में तेजस्विता आएगी। साधुत्व की इन कसौटियों पर मनन और गहराई से निदिध्यासन भी करना है। ऐसा होता है तो साधुत्व की तेजस्विता की दिशा में एक नया प्रस्थान होगा। ❖

घर–परिवार और मित्र–परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक–नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म–दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है।
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

गांधी पुण्यतिथि व गणतंत्र दिवस पर विशेष

गांधी : कर्म में नहीं, अकर्म में

जैनेन्द्रकुमार

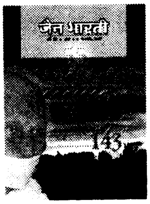

जो सिद्धांत गांधी के जीवन द्वारा चरितार्थ और परिपुष्ट हो रहे हैं, वे केवल बौद्धिक नहीं हैं। इसलिए वे केवल बुद्धिग्राह्य भी नहीं हैं। वह समूचे जीवन से संबंध रखता है। इस लिहाज से उसे आध्यात्मिक कह सकते हैं। आध्यात्मिक, यानी धार्मिक। व्यक्तित्व का और जीवन का कोई पहलू उससे बचा नहीं रह सकता। क्या व्यक्तिगत, क्या सामाजिक, क्या राजनीतिक अथवा अन्य क्षेत्रों में वह एक-सा व्यापक है। वह चिन्मय है, वादगत वह नहीं है।

गांधी के जीवन की समूची विविधता भीतर संकल्प और विश्वास की निपट एकता पर कायम है। जो चिन्मय तत्त्व उनके जीवन से व्यक्त होता है उसमें खंड नहीं हैं। वह सहज और स्वभाव-रूप है।

30 जनवरी, सन् 1948 को गांधीजी देह से छूट गए, मानो ममता से छूट गए। पहले हम उन्हें अपनी ममताओं के माध्यम से, लाभालाभ की दृष्टि से देखते थे। देह से छूट जाने पर अब उन्हें आत्मा से ही पाया जा सकता है।

एक समय आया जब गांधीजी और कांग्रेस अलग-अलग हो गए। कांग्रेस राष्ट्र-चेतना लेकर ही जीती थी, वही उसका जिम्मा बन गया। अतः उसने सत्ता पकड़ी। गांधी ने कहा, 'सत्ता मत अपनाओ। कांग्रेस का राष्ट्रीय धर्म पूरा हुआ, अब राज्य के आसन पर मत बैठो, सेवा का धर्म रखो।' इस प्रकार जब तक कांग्रेस वाले शासन को अपनी जिम्मेदारी मानेंगे, वे गांधीजी की राह से दूर पड़ते जाएंगे। आगे तो वे स्वयं जिस दिशा में चलेंगे उससे गांधी की राह चलने वालों को राष्ट्रद्रोही करार दिया जाएगा। उन्हें दंड दिया जाएगा, 'शहीद' भी बनाया जाएगा। वही समय होगा जब कि गांधीजी की आत्मा का संदेश प्रकट होगा। अभी तो चरखा और खादी फैशन तक हैं।

तप्त राष्ट्र-चेतना ही युद्ध की प्रेरक बनती है। राष्ट्र की सत्ता सर्वोपरि मानना भयंकर है। गांधी भारत का न था—संस्कृति का, मानवता का था; हमने उसे राजनेता, राष्ट्रपिता मात्र माना। इससे हम स्वयं नीचे गए और उन्हें भी नीचे ले जा रहे हैं। अभी तो हमारा गांधीजी से उपयोगिता का नाता है। जब वह नाता सत्य-शोध का बनेगा, तब गांधी राष्ट्र का ही न रह जाएगा, समूची मानवता का बनेगा। गांधीजी को सामने रख कर हम राष्ट्रीयता को मानवता के साथ निभा सकते हैं। जो हिंसा से प्राप्त हो और उसी से संरक्षित रखा जा सके, वह मानवता का ध्रुव मूल्य नहीं। गांधीजी ने सिखाया कि राष्ट्र का मानवादर्श से विरोध नहीं है। विरोध हो वहां राष्ट्रीयता नहीं, राष्ट्रमद ही है और यह राष्ट्रमद ही आगे साम्राज्यवाद बन जाता है। राष्ट्रयुद्ध में गांधीजी सबसे आगे रहे। बाद में जब वे नोआखली में घूमते थे तो वहां भी वे सच्ची राष्ट्रीयता का निर्माण कर रहे थे।

गांधीजी का परिपूर्ण संदेश ईश्वर-प्रार्थना और चरखे में मिल जाता है। राम-नाम वे सोते-जागते कभी नहीं भूलते थे। चरखे का नियम भी उन्होंने बराबर निभाया। प्रार्थना से गांधीजी का अभिप्राय था कि हम अपनी श्रद्धा

उस परम नियंता से जोड़ कर चित्त की विषमताएं गला डालें। पर सामाजिक सत्त्व के अभाव में वह ईश-प्रार्थना को अपूर्ण मानते थे। बिना मानवीय संबंध के विचार के ईश्वरीय आराधन व्यसन तक बन सकता है। चरखे द्वारा हम दूसरे से, अपने पड़ोसी से हितैक्य में मिलते हैं। चरखा वह साधन है, जिसमें मेरा और दूसरे का हित संयुक्त हो जाता है। भक्ति और अध्यात्म में उससे सामाजिक तत्त्व का प्रवेश होता है, स्वर्ग का स्वप्न धरती की ओर आता है और आदर्श व्यवहार पर। आज तो समाज में प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के लिए खतरा बन उठा है।

हमारे कर्म की भाषा कमाई और पैसे से बनती है। अर्थ की कमाई पर आश्रित हमारा सब जीवन कर्म है। जीवन द्रव्य-संचालित है। लाभ की दृष्टि प्रमुख है। बड़ा, प्रमुख और प्रतिष्ठित बनने की चाह है। सिक्का श्रम को खींच लेता है। जहां दो-दो फर्लांग तक पक्का फर्श हो, वहां फल और मिष्टान्न की बहुतायत हो जाती है और गांव बेहाल दीखते हैं। चरखे से गांधीजी ने चाहा था कि उत्पादन और उपयोग के बीच खाई न हो।

गांधीजी को विचार के द्वारा पकड़ना संभव नहीं। कोई ऐसा विषय नहीं जो गांधीजी को ढंक ले या उनसे बच जाय। कोई ऐसा विशेषण नहीं जो उन्हें ढांप ले। यदि गांधीजी का पंथ बना तो जो प्रीति का था, वह तत्त्व का हो रहेगा। जो इनसान था, वह मूरत रह जाएगा। जब हम आत्म-समर्थन में गांधीजी को लाते हैं, तो अन्याय करते हैं। जो गांधी अमर है, वह क्षण-कर्म का नहीं था। हम उनका पंथ नहीं, उनका दर्द, उनकी व्यथा देखें और समझें। राजनीति में ही गांधी को न देखें। राजनीति तो क्षण-क्षण बदलती है और जो कल पद पर था, आज नहीं। जो आज है, कल नहीं रहेगा। गांधी अपने समय के साथ सीमित नहीं था। गांधी तो सत्य का साक्षात्कार चाहते थे, उनके मार्ग में राजनीति आ गई, जैसे सागर की ओर बढ़ती हुई नदी के मार्ग में ऊबड़-खाबड़ आ जाते हैं।

गांधीजी आत्मवान नेता थे। राजनीतिक नेतृत्व में भी उनसे अधिक सफल कौन हुआ? उनके सामने कई नेता आए, पर कभी भी किसी के प्रति उन्होंने विरोधी भाव नहीं रखा। सत्य और अहिंसा पर चलने से व्यक्तित्व कुंठित नहीं होता, ऐसी आस्था उन्होंने जगा दी। प्राणी-मात्र को प्रेम करना 'अहिंसा' है और असत् के प्रतिकार के लिए उद्यत रहना 'सत्य' है। इन दोनों का युगपत् साध कर चलने से बड़ा 'योग' नहीं।

पहले दीन और दुनिया अलग-अलग थे। गांधीजी ने उन्हें मिलाया। उन्होंने कहा कि तन सब दुनिया का और मन सब ईश्वर का। दरिद्र केवल दरिद्र नहीं, दरिद्र नारायण है। अपने को उपकारी या सुधारक समझकर चलने से नहीं चलेगा। संपन्न पश्चात्ताप करें, क्योंकि दीन उन्हीं के पाप के कारण दीन हैं। इस प्रकार गांधी ने 'नर' में 'नारायण' का भाव भरा और नारायण को 'नर' प्राप्त करना सिखाया।

अभी तो लगता है कि सारे रास्ते पैसे से खुलते हैं। कोई आदमी, जो हाथ में श्रम और मन में प्रीति लेकर आता है—भूखा क्यों रहे? आज 'श्रम' और 'स्नेह' में मूल्य नहीं रहा। मूल्य सिक्के में आ गया है। आदमी को लतियाओ, पैसे को पकड़ो—जीवन व्यवहार यह बना जा रहा है। गांधीजी ने हमें क्या दान दिया? क्या केवल देश का स्वराज्य? या जीवन का वास्तविक 'मूल्य'? सत्याग्रह गांधीजी की सबसे बड़ी देन है। लाखों के विरोध में एक व्यक्ति को भी अपने लिए जीने और मरने का हक है। जब लोकतंत्र बहुमत को अल्पमत पर लदने का अधिकार न देगा, तभी हम पशु-समाज से मानव-समाज की ओर बढ़ेंगे। गांधीजी ने चाहा—स्नेह में से श्रम आए। श्रम और स्नेह मूल्य बनें। जैसे रोगी के प्रति सहानुभूति, वैसे ही अपराधी के प्रति भी हो। दंडशक्ति से मानव-संस्कार नहीं होता!

आज के दिन हम उस गांधी को याद करें, जो वेदना और व्यथा का था। जिसके लिए यह संभव नहीं था कि अपने लिए कुछ रख ले। बा ने उन्हीं की खातिर चार रुपये क्या रख लिए, उसके लिए भी अखबार में छापा और प्रायश्चित्त किया। एक गरीब बहन मिली जिसने कहा—नहाऊं तो कपड़े कैसे धोऊं? बस, बाद में वे पूरा कपड़ा न पहन सके। और आज हम सोचते हैं कि देश में अमीरी लाने के लिए स्वयं पहले हम अमीर बन लें! दौलत-उत्पादन बढ़ रहा है, पर चैन कहां? दिल्ली का वैभव किस लंका की स्वर्णपुरी से कम होगा? पर हम रावण को नहीं याद करते, राम को याद करते हैं, जो राज छोड़ सानंद वनवास को निकल गए थे। मरने के बाद आदमी का प्यार ही याद रह जाता है। आज एक आदमी दूसरे में आश्वासन नहीं पाता, अतः सब चिंतित हैं। ह्रास की स्थिति है। क्या वह स्वस्थ समाज है, जिसमें सभी को अपनी चिंता में बीतते और सूखते रहना पड़े!

कर्म-ज्वर में स्वास्थ्य प्रकट नहीं होगा। गांधी कर्म में नहीं हैं, 'अकर्म' में, अध्यात्म में हैं। गांधी का कर्म स्वच्छता और प्रामाणिकता में है। गांधी के गिनाए काम करें उससे नहीं, आत्म-प्रेरणा से निरपेक्ष सेवा करें, तभी गांधी का काम होगा।

गांधी ने कोई सूत्रबद्ध मंतव्य प्रचारित नहीं किया है। वैसा रेखाबद्ध मंतव्य वाद होता है। गांधी अपने जीवन को सत्य के प्रयोग के रूप में देखते हैं। सत्य के साक्षात्कार की उसमें चेष्टा है। सत्य पा नहीं लिया गया है, उसके दर्शन का निरंतर प्रयास है। उनका जीवन परीक्षण है। परीक्षा-फल आंकने का काम इतिहास का होगा, जबकि उनका जीवन जीया जा चुका होगा। उससे पहले उस जीवन-फल को तौलने के लिए बाट कहां हैं, देखने के लिए दूरी (पर्स्पेक्टिव) कहां है?

जो सिद्धांत गांधी के जीवन द्वारा चरितार्थ और परिपुष्ट हो रहे हैं, वे केवल बौद्धिक नहीं हैं। इसलिए वे केवल बुद्धिग्राह्य भी नहीं हैं। वह समूचे जीवन से संबंध रखता है। इस लिहाज से उसे आध्यात्मिक कह सकते हैं। आध्यात्मिक, यानी धार्मिक। व्यक्तित्व का और जीवन का कोई पहलू उससे बचा नहीं रह सकता। क्या व्यक्तिगत, क्या सामाजिक, क्या राजनीतिक अथवा अन्य क्षेत्रों में वह एक-सा व्यापक है। वह चिन्मय है, वादगत वह नहीं है।

गांधी के जीवन की समूची विविधता भीतर संकल्प और विश्वास की निपट एकता पर कायम है। जो चिन्मय तत्त्व उनके जीवन से व्यक्त होता है उसमें खंड नहीं हैं। वह सहज और स्वभाव-रूप है। उसमें प्रतिभा की आभा नहीं है, क्योंकि प्रतिभा द्वंद्वज होती है। उसे निर्गुण अद्वैत तत्त्व के प्रकाश में देख सकें तो उस जीवन का विस्मयकारी वैचित्र्य दिन की धूप-जैसा धौला और साफ हो आएगा। अन्यथा गांधी एक पहेली है जो कभी खुल नहीं सकती। कुंजी उसकी एक और एक ही है। वहां दो-पन नहीं है। वहां सब दो एक हैं।

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' समूचे और बहुतेरे मतवादों के बीच में रहकर, सबको मानकर, किंतु किसी में न अटक कर, गांधी ने सत्य की शरण को गह लिया। सत्य ही ईश्वर और ईश्वर ही सत्य। इसके अतिरिक्त उनके निकट ईश्वर की भी कोई और भाषा नहीं है; न सत्य की ही कोई और परिभाषा है। इस दृष्टि से गांधी की आस्था का आधार अविश्वासी को एकदम अगम है। पर वह आस्था अटूट, अजेय और अचूक इसी कारण है। देखा जाए तो वह अति-सुगम भी इसी कारण है।

कहां से गांधी को कर्म की प्रेरणा प्राप्त होती है, इसका बिना अनुमान किए उस कर्म का अंगीकार करना कठिन होगा। स्रोत को जान लेने पर मानो वह कर्म सहज उपलब्ध हो आएगा। गांधी की प्रेरणा शत-प्रतिशत आस्तिकता में से आती है। वह सर्वथा अपने को ईश्वर के हाथ में छोड़े हुए है। ऐसा करके अनायास वह भाग्य-पुरुष हो गए हैं। जो वह चाहते हैं होता है, क्योंकि जो होने वाला है उसके अतिरिक्त चाह उनमें नहीं है।

बौद्धिक रूप से ग्रहण की जाने वाली उनकी जीवन-नीति, उनकी समाज-नीति, उनकी राजनीति इस आस्तिकता के आधार को तोड़कर समझने की कोशिश करने से समझ में नहीं आ सकती। इस भांति वह एकदम विरोधाभास से भरी, वक्रताओं से वक्र और प्रपंचों से क्लिष्ट मालूम होगी। जैसे मानो उसमें कोई रीढ़ ही नहीं है। वह नीति मानो अवसरवादी की नीति है। मानो वह कूटकौशल है। पर मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि यह कूटकौशल, यह कर्मलाघव अनायास ही यदि उन्हें सिद्ध हो पाया है तो इसी कारण कि उन्होंने अपने जीवन के समूचे जोर से एक और अकेले लक्ष्य को पकड़ लिया है। और वह लक्ष्य क्योंकि एकदम निर्गुण, निराकार, अज्ञेय और अनंत है, इससे वह किसी को बांध नहीं सकता, खोलता ही है। उस आदर्श के प्रति उनका समर्पण सर्वांगीण है। इसलिए सहज भाव से उनका व्यवहार भी आदर्श से उज्ज्वल और ग्रंथिहीन हो गया है। उसमें द्विविधा ही नहीं है। दुनिया में चलना भी मानो उनके लिए अध्यात्म का ध्यान है। नर की सेवा नारायण की पूजा है। कर्मसु कौशलं ही योग है। ईश्वर और संसार में विरोध, यहां तक कि द्वित्व ही नहीं रह गया है। सृष्टि स्रष्टामय है और विष्ठा को भी सोना बनाया जा सकता है। यों कहिए कि सृष्टि में स्रष्टा, नर में नारायण, पदार्थमात्र में सत्य देखने की उनकी साधना में से ही उनकी राजनीति, उनकी समाजनीति निष्पन्न हुई। राजनीति आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुई, स्थूल कर्म में सत्यज्ञान की प्रतिष्ठा हुई और घोर घमसान में प्रेम और शांति के आनंद को अक्षुण्ण रखना बताया गया।

सत्य ही है। भेदमात्र उसमें लय है। इस अनुभूति की लीनता ही सब का परम इष्ट है। परंतु हमारा अज्ञान

हमारी बाधा है। अज्ञान, यानी अहंकार। जिसमें हम हैं उसमें ही, अर्थात् स्वयं में शून्य, अपने को अनुभव करते जाना, यही ज्ञान पाना और जीवन की चरितार्थता पाना है। यही कर्तव्य, यही धर्म।

विश्वास की यह भित्ति पाने पर जब व्यक्ति चलने का प्रयासी होता है, तब उसके कर्म में आदर्श सामाजिकता अपने-आप समा जाती है। समूचा राजनीतिक कर्म भी इसके भीतर आ जाता है। देश-सेवा आती है। विदेशी सरकार से लड़ना भी आ जाता है। स्वराज्य कायम करना और शासन-विधान को यथावश्यक रूप में तोड़ना-बदलना भी आ जाता है।

वह कैसे?

सत्य की आस्था प्राप्त कर उस ओर चलने का प्रयत्न करते ही अभ्यासी को दूसरा तत्त्व प्राप्त होता है : अहिंसा। उसे सत्य का ही साक्षात पहलू कहिए। जैसे रात को चांद का बस उजला भाग दीखता है, शेष पिछला भाग उसका नहीं दिखाई देता, उसी तरह कहना चाहिए कि जो भाग सत्य का हमारे सम्मुख है—वह अहिंसा है। वह भाग अगर उजला है तो किसी 'अपर ज्योति' से ही है। लेकिन फिर भी वह प्रकाशोद्‌गम (सत्य) स्वयं हमारे लिए कुछ अज्ञात और प्रार्थनीय ही है। और जो उसका पहलू आचरणीय रूप में सम्मुख है वही अहिंसा है।

सत्य में तो सब एक हैं। लेकिन, यहां इस संसार में मुझ जैसे कोटि-कोटि आदमी दीखते हैं। उनके अनेक नाम हैं, अनेक वर्ग हैं। ईश्वर में आस्था रखूं तो इस अनेकता के प्रति कैसा आचरण करूं? उन अनेकों में भी कोई मुझे अपना मानता है, कोई पराया गिनता है। कोई सगा है, दूसरा द्वेषी है और इस दुनिया के पदार्थों में भी कुछ मेरे लिए जहर हैं, कुछ अन्य औषध हैं। इस विषमता से भरे संसार के प्रति ऐक्य विश्वास को लेकर मैं कैसे वर्तन करूं, यह प्रश्न होता है।

आस्तिक अगर ऐसे विकट अवसर पर संशय से घिर कर आस्तिकता को छोड़ नहीं बैठता, तो उसके लिए एक ही उत्तर है, वह उत्तर है—अहिंसा।

जो है ईश्वर का है, ईश्वर-कृत है। मैं उसका, किसी का, नाश नहीं चाह सकता, किसी की बुराई नहीं चाह सकता, किसी को झूठा नहीं कह सकता, घमंड नहीं कर सकता आदि कर्तव्य एकाएक ही आस्तिक के ऊपर आ जाते हैं।

लेकिन कर्तव्य कुछ आ जाए, तर्क सुझाएगा कि वस्तु-स्थिति भी तो हम देखें। आंख यथार्थ की ओर से मूंदी तो नहीं जा सकती। वह आंख दिखाती है कि जीव जीव को खाता है। मैं चलता हूं—कौन जानता है कि इसमें भी बहुतों को असुविधा नहीं होती, सांस लेता हूं तो बहुतों का नाश नहीं होता, आहार बिना क्या मैं जी सकता हूं? लेकिन आहार में क्या हिंसा नहीं है? जीवन का एक भी व्यापार हिंसा के बिना संभव नहीं बनता दीखता। जीवन युद्ध दिखलाई देता है। वहां शांति नहीं है। पग-पग पर दुविधा है और विग्रह है।

तब कहे, कौन क्या कहता है। ऐसे स्थल पर आकर ईश-निष्ठा टूटकर ही रहेगी। ऐसे समय पागल ही ईश्वर की बात कर सकता है। जिसकी आंखें खुली हैं और कुछ देख सकती हैं वह सामने के प्रत्यक्ष-जीवन में से, और इतिहास द्वारा परोक्ष-जीवन में से, साफ-साफ सार-तत्त्व को पहचान लेगा कि युद्ध ही मार्ग है। उसमें बल की ही विजय है, और बल जिस पद्धति से विजयी होता है उसमें हिंसा आ जाती है तो भला उससे हम डरें? जो मजबूत है वह निर्बल को दबाता आया है, और इसी तरह विकास घटित होता आया है।

मेरे खयाल में श्रद्धा के अभाव में तर्क की और बुद्धि की सचाई और चुनौती यही है।

किंतु समस्या भी यही है। रोग भी यही है। आज जिस उलझन को सुलझाना है और जिस उलझन को सुलझाने का सवाल हर देश में, हर काल में, कर्मक्षेत्र में प्रवेश करने वाले योद्धा के सामने आएगा। वह यही है कि इस कुरुक्षेत्र में मैं क्या करूं? किसको छोड़ूं, किसको लूं? बुराई को कैसे पछाड़ूं? बुराई क्या है? क्या बुराई अमुक अथवा अमुक नामधारी है? या बुराई वह है जो कि दुख देती है?

इतिहास के आदि से दो नीति और दो पद्धति चलती चली आई हैं। एक वह जो अपने में नहीं, बुराई को कहीं बाहर देखकर ललकार के साथ उनके नाश के लिए चल उठती है। दूसरी, जो स्वयं अपने को भी देखती है और बुरे को नहीं, उसमें विकार के कारण आ गई हुई बुराई को दूर करना चाहती और विकार का निदान अपने में वह खोजती है। आस्तिक की पद्धति यह दूसरी ही हो सकती है। आस्तिकता के बिना बहुत मुश्किल है कि पहली नीति को मानने और उसके वश में हो जाने से व्यक्ति बच सके।

गांधी की राजनीति इस प्रकार धर्मनीति का ही एक

प्रयोग है। वह नीति संघर्ष की परिभाषा में बात नहीं सोचती। संघर्ष की भाषा उसके लिए नितांत असंगत है। युद्ध तो अनिवार्य ही है, किंतु वह धर्म-युद्ध हो। जो धर्म-भाव से नहीं किया जाता वह युद्ध संकट काटता नहीं, संकट बढ़ाता है। धर्म साथ हो, फिर युद्ध से मुंह मोड़ना नहीं है। इस प्रकार के युद्ध से शत्रु मित्र बनता है। नहीं तो शत्रु चाहे मिट भी जाए, पर वह अपने पीछे शत्रुता के बीज छोड़ जाता है और इस तरह शत्रुओं की संख्या गुणानुगुणित ही हो जाती है। अतः युद्ध शत्रु से नहीं, शत्रुता से होगा। बुराई से लड़ना कब रुक सकता है? जो बुराई को मान बैठता है, वह भलाई का कैसा सेवक है? इससे निरंतर युद्ध, अविराम युद्ध। एक क्षण भी उस युद्ध में आंख झपकने का अवकाश नहीं है। किंतु, पल-भर के लिए भी वह युद्ध वासनामूलक नहीं हो सकता। वह जीवन और मौत का, प्रकाश-अंधकार और धर्म-अधर्म का युद्ध है। यह खांडे की धार पर चलना है।

इस प्रकार गांधी-नीति की दो आधारशिला प्राप्त हुईं—

(1) ध्येय—सत्य।

क्योंकि ध्येय कुछ और हो नहीं सकता। जिसमें द्विधा है, दुई है, जिससे कोई अलग भी है, वह ध्येय कैसा? जो एक है, वह संपूर्ण भी है। वह स्वयंभू है, आदि-अंत है, अनादि-अनंत है। प्रगाढ़ आस्था से ग्रहण करो तो वही ईश्वर।

(2) धर्म—अहिंसा।

क्योंकि उस ध्येय को मानने से जो व्यवहार-धर्म प्राप्त हो आता है उसी का अंगीकरण है : अहिंसा।

अहिंसा इसलिए कहा गया कि उस प्रेरक तत्त्व को स्वीकार की परिभाषा में कहना नहीं हो पाता, नकार की ही परिभाषा हाथ रह जाती है। उसको कोई निश्चित संज्ञा ठीक ख़ोल नहीं पाती। हिंसा का अभाव अहिंसा नहीं है, वह तो उसका रूप-भर है। उस अहिंसा का प्राण प्रेम है। प्रेम से और जीवंत (पाजिटिव) शक्ति क्या है? फिर भी आत्मगत और व्यक्तिगत प्रेम में अंतर बांधना कठिन हो जाता, और 'प्रेम' शब्द में निषेध की शक्ति भी कम रहती; इसी से प्रेम न कह कर कहा गया 'अहिंसा'। वह अहिंसा निष्क्रिय (पैसिव) पदार्थ नहीं है, वह तेजस्वी और सक्रिय तत्त्व है।

अहिंसा इस प्रकार मन की समूची वृत्ति द्वारा ग्रहण की जाने वाली शक्ति हुई। कहिए कि चित्त अहिंसा में भीग रहना चाहिए। और सत्य है ही ध्येय। अब कहा जा सकता है कि मात्र इन दोनों—सत्य और अहिंसा—के सहारे साधारण भाषा में लोक-कर्म के संबंध में सीधा कुछ प्रकाश नहीं प्राप्त होता। सत्य को मन में धार लिया, अहिंसा से भी चित्त को भिगो लिया, लेकिन अब करना क्या होगा? तो उसके लिए है—

(3) कर्म—सत्याग्रह।

सत्याग्रह मानो कर्म की व्याख्या है। सत्य प्राप्त नहीं है। उस उपलब्धि की ओर बढ़ते रहना है। इसी में गति (उन्नति, प्रगति, विकास आदि) की आवश्यकता समा जाती है। इसी में कर्तव्य और कर्म (डूइंग) आ जाता है।

यहां प्रश्न उठ सकता है कि जब पहली स्थापना में सत्य को अखंड और अविभाज्य कहा गया तब वहां अवकाश कहां रहा कि आग्रह हो? जहां आग्रह है वहां इसलिए असत्य है।

यह शंका अत्यंत संगत है। और इसी का निराकरण करने के लिए शर्त लगाई गई—सविनय। जहां विनय-भाव नहीं है, वहां सत्याग्रह हो ही नहीं सकता। वहां उस घोष का व्यवहार है तो जान अथवा अजान में छल है। व्यक्ति सदा ही अपूर्ण है। जब तक वह है, तब तक समष्टि के साथ उसका कुछ भेद भी है। फिर भी जो समष्टिगत सत्य की झांकी व्यक्ति के अंतःकरण में प्राप्त होकर जाग उठी है, व्यक्ति की समूची निष्ठा उसी के प्रति समर्पित हो जानी चाहिए। उस डटी रहने वाली निष्ठा को कहा गया आग्रह, किंतु उस आग्रह में सत्याग्रही अविनयी नहीं हो सकता, और उस आग्रह का कष्ट और दंड अपने ऊपर ही लेता है। उसकी (नैतिक से अतिरिक्त) चोट दूसरे तक नहीं पहुंचने देता। यानी सत्याग्रह है तो सविनय होगा। कहीं गहरे तल में भी वहां अविनय-भाव नहीं हो सकता। कानून (सरकारी और लौकिक) तक की अवज्ञा हो सकेगी, उसका भंग किया जा सकेगा, लेकिन तभी, जबकि सत्य की निष्ठा के कारण हो और वह अवज्ञा सर्वथा विनम्र और भद्र हो।

गांधी-नीति के इस प्रकार के तीन मूल सिद्धांत हुए। यों तीनों एक ही हैं। फिर भी कह सकते हैं कि सत्य व्यक्तिगत है, अहिंसा सामाजिक और सत्याग्रह राजनीतिक हो जाता है। ❖

मन : दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक पहलू

साध्वी निर्वाणश्री

विशेषावश्यक भाष्य में मन के स्वरूप को विश्लेषित करते हुए कहा गया—मनन ही मन है। जिसके द्वारा मनन किया जाता है वह मन है—मणणं व मन्नए वाणेणं। सूत्रकृतांग वृत्ति में मन को इस प्रकार व्याख्यायित किया गया—सर्वविषयमंतः करणं युगपत्-ज्ञानानुत्पत्तिलिंगं मनः—सर्व विषयग्राही एवं दो ज्ञान-धाराओं को एक साथ ग्रहण करने में असमर्थ—अवबोध मन है। धवलाकार ने इसे परिभाषित करते हुए कहा—चेतना की वह शक्ति, जो सम्यक् प्रकार से पदार्थ को ग्रहण करती है, अर्थात् ईहा, अवाय, धारणापूर्वक ग्रहण करती है—वह संज्ञा अथवा मन है। सम्यक् जानातीति संज्ञ मनः। आचार्य तुलसी ने जैन सिद्धांत दीपिका में इस संदर्भ में लिखा—इंद्रियार्थ सापेक्षं सर्वार्थग्राही त्रैकालिकं संज्ञानं मनः।

दर्शनशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण शब्द है—मन। विश्व के हर दार्शनिक ने किसी-न-किसी रूप में इसे स्वीकार किया है। उन्होंने उसे जीव, सत्त्व चिति, चित्त, प्राण, ज्ञान, विज्ञान, अध्यवसाय, तर्क, समझ आदि अनेक शब्दों से व्याख्यायित किया है। ये शब्द उसकी विभिन्न अवस्थाओं के द्योतक हैं। वर्तमान में चेतना, भावना एवं मनस् शब्द अधिक प्रचलित हैं। जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में मन को समझने के लिए हमें आत्मा, कर्म, नो-कर्म आदि को समझना होगा। जैन ग्रंथों में सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ आचारांग में हमें मन का विश्लेषण इस रूप में प्राप्त होता है—**अणेग चित्ते खलु अयं पुरिसे**—यह पुरुष अनेक चित्तवाला है। सूत्रकृतांग सूत्र में इसके लिए तर्क, प्रज्ञा, संज्ञा आदि शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। स्थानांग सूत्र में मनोयोग की चर्चा बड़े विस्तार के साथ हुई है।

मन के विभिन्न प्रकार

जैन शास्त्रों का प्रतिपाद्य है कि एक क्षण में मानसिक ज्ञान एक ही होता है। विरोधी युगलों की युगपत् अनुभूति होते हुए भी उनके परिज्ञान के क्षण पृथक्-पृथक् हैं। यथा नदी में खड़े व्यक्ति के लिए उष्णता एवं शीतलता का बोध। स्थानांग सूत्र में मन के तीन प्रकार प्रतिपादित हैं—

1. **तन्मन**—लक्ष्य में लगा हुआ मन।
2. **तदन्यमन**—अलक्ष्य में लगा हुआ मन।
3. **नो-अमन**—मन का लक्ष्यहीन व्यापार।

इसी तरह मन की तीन अवस्थाएं बताई गई हैं—

1. **सुमनस्कता**—मानसिक प्रसन्नता।
2. **दुर्मनस्कता**—मानसिक विषाद।
3. **नो-सुमनस्कता नो-दुर्मनस्कता**—मानसिक उपेक्षा।

भगवतीसूत्र में भगवान महावीर एवं गौतम स्वामी के मन विषयक संवाद का निष्कर्ष है कि मन आत्मा नहीं है। वह अरूपी है, अचित्त है, अजीव है। वह जीवों के ही होता है। मननकाल में होता है। उससे पूर्व व पश्चात् नहीं होता है। आचारशास्त्रीय दृष्टि से मन को चार वर्गों में वर्गीकृत किया गया है—1. सत्य मनयोग, 2. असत्य मनयोग, 3. मिश्र मनयोग, 4. व्यवहार मनयोग।

मन का स्वरूप

विशेषावश्यक भाष्य में मन के स्वरूप को विश्लेषित करते हुए कहा गया—मनन ही मन है। जिसके द्वारा मनन किया जाता है वह मन है—**मणणं व मन्नए वाणेणं**। सूत्रकृतांग वृत्ति में मन को इस प्रकार व्याख्यायित किया गया—**सर्वविषयमंतः करणं युगपत्-ज्ञानानुत्पत्तिलिंगं मनः**—सर्व विषयग्राही एवं दो ज्ञान-धाराओं को एक साथ ग्रहण करने में असमर्थ—अवबोध मन है। धवलाकार ने इसे परिभाषित करते हुए कहा—चेतना की वह शक्ति, जो सम्यक् प्रकार से पदार्थ को ग्रहण करती है, अर्थात् ईहा, अवाय, धारणापूर्वक ग्रहण करती है—वह संज्ञा अथवा मन है। **सम्यक् जानातीति संज्ञं मनः**। आचार्य तुलसी ने जैन सिद्धांत दीपिका में इस संदर्भ में लिखा—**इंद्रियार्थ सापेक्षं सर्वार्थग्राही त्रैकालिकं संज्ञानं मनः**।

मन चेतन या अचेतन

जैन दर्शन के अनुसार मन न तो मात्र चेतन द्रव्य का गुण है और न मात्र अचेतन द्रव्य का। वह दोनों के सम्मिश्रण की स्थिति में उत्पन्न होता है। मन के दो प्रकार हैं—द्रव्यमन और भावमन। इन्हें अचेतन और चेतन मन भी कहा जा सकता है। मनन योग्य पुद्‌गल द्रव्यमन है। मनन करता हुआ जीव भावमन है। सर्वार्थसिद्धि में इस संदर्भ में कहा गया है—पुद्‌गल विपाकी नामकर्म के उदय से उत्पन्न मन द्रव्यमन है। दर्शनावरणीय कर्म (नो-इंद्रियावरण) कर्म एवं अंतराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त विशुद्धि भावमन है।

मन और मस्तिष्क

मन और मस्तिष्क का गहन संबंध है। इंद्रियों के द्वारा विषय का ग्रहण होता है। मस्तिष्क उसका संवेदन करता है। मन उस पर पर्यालोचन का कार्य करता है। वह हेय व उपादेय का ग्रहण करता है। मस्तिष्क मन की प्रवृत्ति का मुख्य साधक अंग है। अतः मस्तिष्क के विकृत होने पर मन भी विकृत हो जाता है। जैसे आंख का गोलक देखने में सहायक होता है, उसी प्रकार मस्तिष्क के बिना मनन का कार्य नहीं होता। मन और मस्तिष्क एक-दूसरे के पूरक हैं।

मन और शरीर का पारस्परिक प्रभाव

शरीर और मन एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। मन स्वस्थ होता है तो शरीर से भी व्यक्ति स्वस्थता का अनुभव करता है। भावमन, रूप, जीव और शरीर के संबंध को क्षीर-नीर की तरह प्रतिपादित किया गया है। जिस प्रकार पद्मरागमणि अपने प्रकाश से वस्तु को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार भावमन शरीर को शक्ति प्रदान करता है।

मन का स्थान

गोम्मटसार में मन को हृदयस्थानीय बतलाया गया है। योग के कुछ आचार्य इसे संपूर्ण शरीरव्यापी मानते हैं। उनके अभिमत से जहां-जहां प्राणवायु है, वहां-वहां मन है। हमारी ज्ञानचेतना के प्रकटीकरण के मुख्य तीन स्रोत हैं—वृहद् मस्तिष्क, लघु मस्तिष्क और पृष्ठरज्जु।

क्या मन इंद्रिय है?

जैन दर्शन के अनुसार मन अनींद्रिय है। इंद्रिय की तरह मन का विषय प्रतिनियत नहीं है। अनींद्रिय शब्द में नञ् प्रयोग निषेध के अर्थ में न होकर सादृश्य के अर्थ में हुआ है। मन के व्यक्त चेतनत्व की दृष्टि से उसके अधिकारी गर्भज पंचेंद्रिय हैं। पर संज्ञी श्रुत की दृष्टि से इतर प्राणी भी उसके अधिकारी हैं। ईहा, अपोह के बिना इष्ट की प्रवृत्ति और अनिष्ट की निवृत्ति संभव नहीं है।

अंतर्मन, बुद्धि एवं चित्त

मन के द्वारा शिक्षात्मक एवं क्रियात्मक अर्थ का ग्रहण होता है। बुद्धि मन की सहायता से कार्य का निष्पादन करती है। बुद्धि समनस्क में ही होती है। ग्रहण, विमर्श, निर्णय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि बुद्धि के कार्य हैं। बुद्धि को परिभाषित करते हुए कहा गया है—**इंद्रियार्थाश्रया बुद्धिः**—इंद्रिय एवं अर्थ के सहारे होने वाला मानसिक ज्ञान बुद्धि है। बुद्धि सहजात है। उसका अवस्था से कोई संबंध नहीं है। आचार्य जिनसेन के अनुसार वृद्ध,. युवा एवं बालक व्यक्ति के अवस्थाकृत भेद हैं, बुद्धिकृत नहीं हैं। बुद्धि के न्यूनाधिक्य का हेतु ज्ञानावरणीय कर्म की सघनता एवं विरलता है। मानसिक विकास का हेतु दर्शनावरणीय एवं अंतराय कर्म का क्षयोपशम है। चेतना की समस्त क्रियाओं का संवाहक चित्त है। उसके क्रिया संचालन का मुख्य उपकरण मन है। मन केवल मनन काल में ही होता है। चित्त का सदैव उस पर नियंत्रण रहता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपनी पुस्तकों—'चित्त एवं मन,' 'चेतना का ऊर्ध्वारोहण' आदि में इस संदर्भ में विस्तृत विमर्श किया है।

मन की अवस्थाएं

तात्त्विक दृष्टि से मन की अनंत अवस्थाएं हैं। पर, योग

के आचार्यों ने मानसिक एकाग्रता की दृष्टि से इसके कुछ मुख्य विभाग किए हैं। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा विरचित ध्यानशतक में इसकी तीन स्थितियां प्रतिपादित हैं—

भावना—ध्यान के अभ्यास की क्रिया।

अनुप्रेक्षा—स्मृति ध्यान से च्युत मन को पुनः उसी स्मृति ध्यान में स्थिर करना।

चिंता—चिंतन।

आचार्य कुंदकुंद, पूज्यपाद, योगेंदु, शुभचंद्र आदि योग के प्रमुख जैनाचार्यों ने इसकी चर्चा बहिरात्मा, अंतरात्मा एवं परमात्मा के रूप में की है। मोक्ष प्राभृत, समाधितंत्र, परमात्मप्रकाश, ज्ञानार्णव आदि एतद्विषयक प्रतिनिधि ग्रंथ हैं। आचार्यश्री तुलसी ने अपनी पुस्तक मनोनुशासनम् में मन की छह अवस्थाओं—मूढ़, विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट, सुलीन, निरुद्ध—का निरूपण किया है।

सांख्य दर्शन में मन

सांख्य दर्शन में मन एक अचेतन द्रव्य है। उसकी उत्पत्ति अहंकार से होती है। संकल्पन मन का स्वभाव माना गया है—**मनः संकल्पकम्**। इसका अंतर्भाव इंद्रिय के अंतर्गत किया गया है। ग्रहण, धारण, ऊह, अपोह, अभिनिवेश, तत्त्वज्ञान आदि इसके कार्य हैं। जैन दर्शन की तरह सांख्य दर्शन भी मन और इंद्रिय की सापेक्षता को स्वीकार करता है। मन के व्यापकत्व के संदर्भ में देशव्यापी और सर्वव्यापी—दोनों ही सिद्धांत सांख्य दर्शन में मान्य हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार विषयों के प्रति चित्त का आकर्षण उसी प्रकार होता है जिस प्रकार चुंबक के प्रति लोहे का। चित्त सर्वार्थग्राही है। यह अचेतन होते हुए भी चेतन-तुल्य व्यवहार करता है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन के संदर्भ में मन

न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार मन एक मूर्त एवं गतिशील द्रव्य है। यह आकार की दृष्टि से अणु रूप है। इंद्रिय की तरह कार्य करने के कारण इसे आभ्यंतर इंद्रिय भी कहा जाता है। यह इंद्रियों द्वारा प्राप्त संवेदनाओं को आत्मा तक पहुंचाने में सेतु की तरह कार्य करता है। आत्मा और मन का संबंध स्वामी-सेवक के तुल्य है। यह एक समय में एक संवेदनग्राही है। स्मृति, अनुमान, इच्छा आदि मन के कार्य हैं। इंद्रियों के बिना भी इसकी कार्य में प्रवृत्ति होती है, इसीलिए इसे करणांतर भी कहा जाता है। यह इंद्रिय एवं आत्मा के संयोग से कार्य करता है, अतः इसे संयोगी कहा गया है। मन में गत्यात्मकता आत्मा की इच्छानुसार होती है।

वैदिक दर्शन और मन

वैदिक दर्शन के अनुसार मन ब्रह्म का पुत्र है और सारे संसार का संचालक है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया—संपूर्ण विश्व मन के ही वश में है। वह कर्मसृष्टि का निर्माता है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार मन सर्वार्थ प्रकाशक है। मन की शक्ति के बिना इंद्रियज्ञान की उपयोगिता निष्प्रयोजन है। मन और वाणी के बीच एक सार्थक संबंध है। बिना मन के वाणी की गति नहीं हो सकती।

बौद्ध दर्शन में मन

बौद्ध दर्शन में मन विषयक विवेचन चित्त व चैतसिक के रूप में प्राप्त होता है। चित्त को परिभाषित करते हुए कहा गया है—**सदा स्पर्श मनस्कारः वित् संज्ञा चेतनान्वितम्**। स्पर्श चित्त का तात्पर्य है विषयों के साथ सन्निकर्ष। मनस्कार मानसिक एकाग्रता का द्योतक है। चित्त वेदना का वाचक है। संज्ञा चित्त इंद्रिय-विषयों का कालसापेक्ष परिज्ञान करता है। चित्त विज्ञान स्कंध रूप है। उसके कुशल, अकुशल आदि चार भेद हैं। चित्त का धर्म चैतसिक कहा जाता है। अभिधम्मत्थ संगहों में कुशल एवं अकुशल चैतसिकों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।

पाश्चात्य दर्शन एवं मनोविज्ञान में मन

पाश्चात्य दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिकों ने 'माइंड', 'सोल', 'कॉन्सीयसनेस,' 'साइक', 'स्पिरिट', 'इगो', 'सेल्फ', 'इन्टेलेक्ट'—आदि विविध शब्दों के माध्यम से मन को विश्लेषित किया है। इसके पुरस्कर्ता यूनानी दार्शनिक हैं। उन्होंने 'Id' शब्द के द्वारा इसे व्याख्यायित किया है। चिंतन, ज्ञान और लक्ष्य-निर्धारण के रूप में उन्होंने मन की शक्ति को स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में मन आत्मा से अलग तत्त्व नहीं है। प्लेटो, अरस्तू, प्लाटीनस, ऑगस्टाइन, एक्रीनस, ल्यूक्रेटिस आदि सभी दार्शनिकों ने मन को आत्मा के हिस्से के रूप में स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में मन संपूर्ण शरीर का प्रधान शासक है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने मन को आधार मानकर संपूर्ण मनोविज्ञान का विस्तार किया। जुंग ने 'साइक' को आधार मान इसकी व्याख्या की है। गिल्बर्ट राइल ने 'द कॉन्सेप्ट ऑफ माइंड' में मन को परिभाषित करते हुए लिखा—मन न दिक् का विषय है, और न

यांत्रिक नियमों के आधार पर उसका विभेदीकरण हो सकता है। यह एक जटिल वस्तु है। बौद्धिक व मानसिक प्रक्रियाओं के अतिरिक्त मौलिक रुचियों, प्रवृत्तियों एवं आवेगों का इसमें समावेश है।

संदर्भ मनोविज्ञान का

मनोविज्ञान के अनुसार मन के मुख्य तीन स्तर हैं—चेतन मन, अवचेतन मन एवं अचेतन मन। इनकी तुलना समुद्र में बहते हुए विशाल हिमखंड से की गई है। हिमखंड के 10 प्रतिशत दृश्य भाग की तरह चेतन मन है। पानी में से दृश्य कुछ भाग की तरह अवचेतन मन है। 90 प्रतिशत अदृश्य भाग की तरह अचेतन मन है। अवचेतन मन को 'अहं' एवं अचेतन मन को 'इड' कहा गया है। चेतन मन की तुलना में अचेतन मन की शक्ति असीम है। अवचेतन मन दोनों का संधिस्थल है। आधुनिक मनोविज्ञान ने मस्तिष्कीय तरंगों के आधार पर मन की अवस्थाओं का मापन किया है। पूर्ण जागृति की स्थिति में मस्तिष्कीय तंतु एक सैकंड में 13 से 20 बार प्रकंपित होते हैं। यह मस्तिष्क का 'बीटा' स्तर है। निद्रा एवं विश्राम की स्थिति में यह आवृत्ति 8 से 10 बार होती है। इन्हें 'अल्फा' तरंगों के नाम से जाना जाता है। आवृत्ति का स्तर जब 4 से 7 के बीच होता है तो 'थीटा' तरंगों का निर्माण होता है। 1 से 4 तक की आवृत्ति 'डेल्टा' स्तर का निर्माण करती है।

उपसंहार

इस संपूर्ण दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का तात्पर्य है कि हमारा प्रस्थान मन से अमन (विशुद्ध चेतना) की ओर हो। मन जहां समस्याओं का सर्जक है, वहां उसका विलय समस्याओं-उलझनों को समाप्त करने वाला है। विलय की इस प्रक्रिया के तीन रूप हैं—उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय। मनोविज्ञान की शब्दावली में इन्हें दमन, उदात्तीकरण और विलय कहा गया है। यद्यपि उपशम का मार्ग प्रशस्त मार्ग नहीं है, पर तात्कालिक प्रभाव की दृष्टि से उसे अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। क्षयोपशम और क्षय का मार्ग मूल मार्ग है। संवर और निर्जरा उसके सशक्त उपाय हैं। अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उपाय में कौशल संभव है। ❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001 ❑ फोन : 22357956, 22343598 फैक्स : 033-22343666

93वें वार्षिक अधिवेशन की सूचना

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा का 93वां वार्षिक अधिवेशन आगामी मिति माघ शुक्ला 6, दिनांक 24 जनवरी, 2007 को सायं 6.00 बजे टी.एम. हॉल, ओसवाल पंचायत भवन, नई लेन, गंगाशहर (राजस्थान) में होगा, जिसमें निम्न विषयों पर विचार होगा—

- ❖ महासभा के 92वें वार्षिक अधिवेशन की कार्यवाही का पठन एवं स्वीकृति।
- ❖ महासभा के 93वें वर्ष के महामंत्री के वार्षिक प्रतिवेदन पर विचार व स्वीकृति।
- ❖ महासभा के हिसाब परीक्षक द्वारा अंकेक्षित 1 अप्रैल, 2005 से 31 मार्च, 2006 तक के आय-व्यय लेखा की स्वीकृति।
- ❖ महासभा के, आगामी एक वर्ष के लिए, अंकेक्षक की नियुक्ति।
- ❖ आए हुए प्रस्तावों एवं सुझावों पर विचार।
- ❖ विविध—अध्यक्ष महोदय की अनुमति से।

महासभा के वार्षिक अधिवेशन में सभी सदस्यों की उपस्थिति सादर प्रार्थित है।

भवदीय

20 दिसंबर, 2006
कोलकाता

तरुण सेठिया
महामंत्री

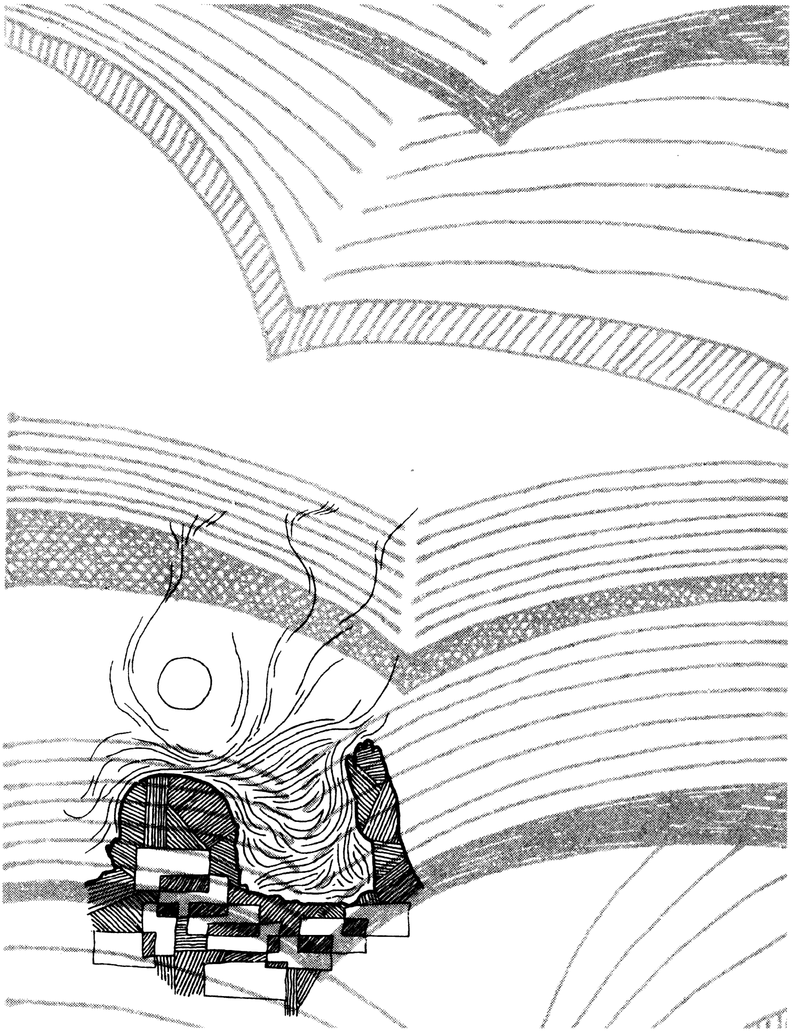

अनुभूति

इष्ट और साधन

सुख क्या इष्ट है? कहना कठिन है।

समरसता क्या इष्ट है? अवश्य। सुख तो उसके खोज की एक आनुषंगिक उपलब्धि है।

समरसता की पहली शर्त है आत्म-चेतना से मुक्ति। इस मुक्ति के दो साधन हो सकते हैं : एक तो मृत्यु, दूसरा गहरा राग।

पश्चिमी दृष्टि सभ्यता के नाम पर राग को नियंत्रित करना चाहती है; और जीवन-प्रेम के नाम पर मृत्यु की चेतना को दबा देना चाहती है।

भारतीय दृष्टि राग को पूजा के आसन पर प्रतिष्ठित करती है और मृत्यु को गहरे सत्य के रूप में स्वीकार करती है।

—अज्ञेय

मर्यादा महोत्सव पर विशेष

साधुत्व की शोभा : पांच महाव्रत

युवाचार्यश्री महाश्रमण

शील बड़ी संपदा है। कोई बाहरी तात्कालिक प्रभाव हो भी जाए, पर संयम के प्रति रुझान मजबूत है तो व्यक्ति गलत आकर्षण में नहीं जाएगा। संयम के प्रति रुझान न हो तो बाहरी आकर्षण प्रारंभ होकर फिर भीतर में घुस जाता है। साथ ही साथ अपरिग्रह की साधना भी पुष्ट होनी चाहिए। संग्रह अधिक न हो। हलके-फुलके बने रहें। कपड़ों आदि के प्रति आकर्षण न हो। पांच महाव्रत—पांच बड़ी संपदाएं हैं। इन संपदाओं से संपन्न साधु-जीवन सदा शोभा पाता है।

साधक संवर की साधना करता है और आश्रवों को रोकता है। आश्रव बीस हैं और इन्हें संक्षिप्त करें तो पांच आश्रवों में भी ये समा जाते हैं। पांच आश्रवों का संक्षिप्तीकरण भी करना चाहें तो ये दो—कषाय और योग में समा जाते हैं।

साधु सावद्य योग का त्याग करता है। सावद्य योग का त्याग कर देने पर भी कषाय का त्याग नहीं हो जाता। कषाय तो भीतर विद्यमान रहता है। कषाय और योग—इन दोनों के दो अलग-अलग क्षेत्र हैं। एक कषाय का क्षेत्र है, एक योग का क्षेत्र है। कषाय है, रहेगा। इसीलिए साधक का महत्त्वपूर्ण काम है—कषाय को योग की परिधि में न आने देना। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति होती है। ये योग हैं। ये अपने-आप में अच्छे या बुरे नहीं होते। इस संदर्भ में जयाचार्यश्री की पंक्ति ज्ञातव्य है—**उजला नै मैला कह्या जोग, मोह कर्म संजोग विजोग।** काययोग होता है, इसके साथ जब कषाय जुड़ जाता है तो काययोग सावद्य बन जाता है। काय योग के साथ कषाय का जुड़ना कमजोरी है, प्रमाद है। इसी तरह वचन की प्रवृत्ति होती है और वचन में यदि कटुता आ जाती है तो इसका मतलब है कि वचनयोग में कषाय का प्रवेश हो गया। मनोयोग के संदर्भ में भी यही बात है। चेहरा लाल-पीला नहीं हुआ, कटु-कठोर शब्द का प्रयोग भी नहीं हुआ, पर मन में कुछ अन्यथा आ गया। क्रोध, मान, काया और लोभ का स्पर्श होते ही मन मैला हो गया। कषाय अलग पड़ा रहे, तब तक तो कोई बात नहीं, लेकिन योग के साथ जुड़ते ही ये योग को मलिन कर देते हैं।

हमारे योगों में कषाय न आए तो हमारी साधना बहुत उच्च कोटि की हो सकती है। अन्यथा हमारी साधना में अवरोध, बाधा आ सकती है। जैसे, मोह के उदय का प्राबल्य होने से योग मलिन हो जाते हैं। प्रयास और जागरूकता यह रहे कि मोह आदि को उदय में न आने दें। कषाय को योग में न आने दें—इसी सूत्र की प्रबल प्रेरणा देते हुए महावीर ने कहा—**समयं गोयम! मा पमायए**—क्षण-भर के लिए भी प्रमाद न करें, जागरूक प्रहरी बने रहें।

प्रमाद दो तरह के होते हैं—(1) **भावात्मक**—यह प्रमाद तो फिर भी

संभव है। 2. **योगात्मक**—यह व्यक्त प्रमाद है। यह कषाय के जुड़ने से होता है। व्यक्त प्रमाद के द्वारा दोष न लगे—यह सावधानी हमारी रहनी चाहिए। जिन्होंने बचपन में ही साधुपन ग्रहण कर लिया, उनका लंबा साधुपन होता है, 80-90 वर्ष का लंबा साधुपन भी हो सकता है। इसी लंबी अवधि में कभी प्रमाद भी संभव है, दोष-सेवन भी हो सकता है। दोष-सेवन भी दो प्रकार के हो सकते हैं—(1) **स्थितिवश**—आंख की जांच, शल्य-क्रिया आदि के प्रसंग में स्थितिवश किया जाने वाला दोष-सेवन है। यह शरीर की आवश्यकतावश करना पड़ सकता है। (2) **प्रमादवश**—प्रमाद से किसी की वस्तु उठा ली, बात को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत कर दिया, अपनी कमजोरी छुपाने का प्रयास किया, दूसरे की मूर्खता को उजागर किया—इस तरह से प्रमादवश भी अनेक दोषों का सेवन हो जाता है। साधक का लक्ष्य रहे कि कभी किसी दोष का सेवन हो भी गया तो उसका गोपन न करे, छिपाए नहीं, अपितु सरलता से प्रस्तुत कर दे। आगम सूक्त है—

अणायारं परक्कम्म नेव गूहे न निह्नवे।
सुई सया वियडभावे बीयं तं न समायरे।।

अधर्म का पद आसेवित हो भी जाए तो तत्काल उससे अपने-आप को संवरित करना चाहिए। भविष्य में इस तरह का प्रमाद न हो—यह सोचना चाहिए। अतीत के दोषों की आवृत्ति न हो—ऐसा संकल्प होना चाहिए। शरीर के संदर्भ में जो हम स्थितिवश दोष की बात करते हैं—उसमें भी ध्यान दें—शरीर को ज्यादा कमजोर, अति नाजुक न बनाएं। जहां तक हो सके अनाचरणीय (बिजली संसाधन से 'चेक-अप', डॉक्टर आदि के स्पर्श) से बचें। यदि हम आसन-प्राणायाम नहीं करें, न खाने का संयम रखें तो रोग और डॉक्टर की बात आएगी ही। यदि शुरू से ही आसन-प्राणायाम आदि का अभ्यास होगा, तो हम ज्यादा स्वस्थ रह सकेंगे, दोषों से बचे रह सकेंगे। प्रमादजनित दोषों से भी बचने का प्रयास करें। यदि कहीं दोष लग भी जाए तो गुरु आदि के द्वारा पूछे जाने पर भोले बच्चे की तरह सब कह दें।

दिल्ली में गुरुदेवश्री तुलसी का विराजना था, किसी साधु से कोई भूल हो गई। वे तार्किक और बुद्धिमान साधु थे। होशियारी से काम लेने लगे। गुरुदेव ने फरमाया—भोले बालक की तरह अपनी स्थिति रखो, तब तो शुद्धि हो सकती है। **किं बाललीलाकलितो न बालः पित्रोः पुरो जल्पति निर्विकल्पः।** तथा **यथार्थं कथयामि नाथ! निजाशयं सानुशयस्तवाग्रे।।**

जैसे बाललीला से युक्त हो बालक अपनी सारी बात कह देता है, वैसे ही अपनी बात कह देनी चाहिए। हमारा प्रतिक्रमण भी इसीलिए है कि हमारी रोज की रोज सफाई होती रहे। प्रतिक्रमण भी यदि केवल 'रुटीन' हो जाए, बोलने में भी ध्यान न रहे, अर्थ की ओर भी ध्यान न जाए, तब तो प्रतिक्रमण वस्तुतः कुछ हुआ नहीं। प्रतिक्रमण को यदि इस तरह सस्ता मान लिया जाता है, तो पूरा लाभ नहीं उठा सकते। प्रतिक्रमण भावक्रिया से करने से, पांच मिनट ज्यादा लगाने से ज्यादा जागरूकता की प्रेरणा मिलती है। दोष लगे ही नहीं, लगे तो शुद्धि हो जाए। बच्चेवत् बता देने से भीतर की शुद्धि हो जाती है। मान लें किसी ने छुपा लिया, इससे बाहर तो पता नहीं चलेगा, पर भीतर तो 'शल्य' रह जाएगा और फिर कभी तो काल (मृत्यु) भी आएगा ही। भीतर के 'शल्य' के प्रभाव से खुद की अशांति तो रहती ही है, अगली गति फिर खराब हो जाती है। इसीलिए आगे की भी सोचें, कर्म का संस्कार आगे भी जाता है। थोड़े बाहरी लाभ-प्रतिष्ठा के लिए कोई बात छुपा कर हम आगे के लिए बहुत बड़ी हानि कर लेते हैं। असत्य ऋजुता को तो कम करता ही है, आत्मा को मलिन भी करता है।

एक व्यक्ति का बड़ा प्रभाव होता है, इस जन्म में उसने ज्यादा कुछ किया नहीं, फिर यह प्रभाव कहां से आया? पूर्व संस्कार ही इस प्रश्न का उत्तर है। गुरुदेवश्री तुलसी 22 वर्ष की उम्र में ही आचार्य बने, संघ में बहुत प्रभावी हुए। अब कल्पना करें—इस जन्म में कौनसी ऐसी साधना की, जिससे इतने प्रभावी बने। संभवतः पूर्वजन्म में कोई विशेष पुण्य किया होगा, कोई विशेष साधना की होगी, तप तपा होगा और उसी तपोबल का परिणाम रहा कि उनका सहज प्रभाव था। एक कोई व्यक्ति होता है, जिसकी कोई पूछ नहीं होती। कारण स्पष्ट है कि भीतर में तप का बल नहीं है, तेजस्विता नहीं है। निर्मल परिणामों के साथ जो साधु देवगति में जाता है, वहां भी उसकी प्रतिष्ठा होती है। क्योंकि वह बेदाग है, उसने शुद्धिकरण कर लिया है। इसीलिए अपेक्षा है कि अपने दोषों को छिपाने के लिए कभी मृषावाद का प्रयोग न हो। हमने किसी को दुत्कारा, आक्रोश या अहं किया, इसका तात्पर्य होगा—हमसे अहिंसा महाव्रत में स्खलना हुई है।

श्रावक-श्राविकाओं के प्रति भी धार्मिक वत्सलता हमारी बनी रहे, यह व्यवहार हमारी अहिंसा को पुष्ट बनाने वाला है। आक्रोश में आकर किसी को कुछ कहने से आत्मा में दोष लगता है। तेजी से कभी किसी को कहना पड़े तो भी ध्यान रहे कि आत्म-प्रदेशों में **तप्ति**, उभार न आए। कड़ाई अलग चीज है, आत्म-प्रदेशों में **तप्ति** आना अलग चीज है।

गुरुदेवश्री तुलसी के साथ पंजाब यात्रा का एक प्रसंग है। विहार से पहले कुछ संत कोई पदार्थ ले लेते थे। मैं जिनके साथ था, उनके लिए दूध, उकाली या कुछ आया था—मैं लेकर आ गया। गुरुदेव एकदम विहार की तैयारी में ही थे। जैसे ही गुरुदेव को मालूम हुआ, काफी कड़ा उलाहना दिया। 'कल्पता है इस तरह जाना? कैसे ले आए? समझते नहीं हो....।' इतने कड़े उलाहने के पीछे गुरुदेव का चिंतन था कि सबमें जागरूकता रहे। पचीस संत भूखे चलें और 5 खाकर चलें—यह असमानता है। दूसरी बात, ऐसे प्रसंगों में **नितपिंड** आदि का भी दोष संभावित है। यह पूज्यवर की शिक्षा थी। बाद में उन्होंने फरमाया भी कि कहना था, इसीलिए कह दिया, मन में ऐसी कोई बात नहीं थी।

आक्रोश भी दो प्रकार का होता है—1. आवेश-जनित, 2. सुधार के लिए तेजी का प्रयोग। भीतर में कोमलता रहे, ऊपर से भले कड़ा कहना पड़े। इसके लिए अपेक्षित है कि हमारा अभ्यास ऐसा हो जाए कि हमारे योग असत्, अशुभ से बचे रहें। लेखन, विद्वत्ता, प्रभाव आदि नंबर दो पर हैं। आत्मसाक्षी से चरित्र का शुद्ध पालन नंबर एक पर है। बाहरी प्रभाव तो वर्षा के मेंढक की तरह हैं। आज हैं, कल नहीं रहेंगे। बाहर का प्रभाव बाद में है। पहला संयम, साधना का प्रभाव है। इसके प्रति हमारी दृढ़ता हो। 99 रुपये संयम-साधना है, एक रुपया बाहरी प्रभाव है। हम एक रुपये के लिए कितना करते हैं और शेष के लिए कितना करते हैं? कितना किसे गौण करें—यह ध्यान देने का विषय है। सजगता रहे, कषाय हमारे योग की परिधि में न आए।

यद्यपि सबकी अपनी-अपनी शैली होती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की शैली को देखें—कोमलता, नम्रता, वत्सलतायुक्त शैली है। प्रायः शांति से फरमा भी देते हैं, इसीलिए कर्मों का **बंधन कम** होता है। कहना पड़े तो भी भीतर में शांति रहे। मुख्य घर तो अपना मृदुता ही है। भीतर राग ज्यादा न हो। इसी प्रकार विपरीत लिंगी के आकर्षण से भी बचना चाहिए। आकर्षण से संयम मलिन होता है। दृष्टि के असंयम से शील का तेज कम हो जाता है। शील बड़ी संपदा है। कोई बाहरी तात्कालिक प्रभाव हो भी जाए, पर संयम के प्रति रुझान मजबूत है तो व्यक्ति गलत आकर्षण में नहीं जाएगा। संयम के प्रति रुझान न हो तो बाहरी आकर्षण प्रारंभ होकर फिर भीतर में घुस जाता है। साथ ही साथ अपरिग्रह की साधना भी पुष्ट होनी चाहिए। संग्रह अधिक न हो। हलके-फुलके बने रहें। कपड़ों आदि के प्रति आकर्षण न हो। पांच महाव्रत—पांच बड़ी संपदाएं हैं। इन संपदाओं से संपन्न साधु-जीवन सदा शोभा पाता है। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

इच्छा : नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि

मुनि जयकुमार

मनुष्य के भीतर अनेक इच्छाएं होती हैं। सागर की लहरों की भांति ये बनती-मिटती जाती हैं। अनेक इच्छाएं ऐसी भी होती हैं जिनकी संपूर्ति होना अत्यंत कठिन होता है और इस कारण कई बार व्यक्ति अपने जीवन को अशांति और निराशा के गर्त में धकेल देता है। इच्छाओं का कभी अंत नहीं होता है। इच्छाओं का साम्राज्य आकाश की तरह असीमित है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

सुवण्ण रूप्पस्स उ पव्वया भवे।
सिया हु केलाससमा असंख्या।।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि।
इच्छा उ आगाससमा अणंतिया।।

अर्थात् कदाचित कैलास के बराबर सोने और चांदी के असंख्य पर्वत हो जाएं तो भी लोभी पुरुष कदाचित तृप्त नहीं हो पाता है, क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनंत होती है।

अनंत इच्छाओं वाला व्यक्ति अपने जीवन में दुख से निजात पा सकता है—यह आकाशी फूल के समान असंभव-सा प्रतीत लगता है। दुख का मूल कारण है अति-इच्छा का होना। इच्छाओं से कभी पार नहीं पाया जा सकता। उनकी तरंगें अविचल गति से निरंतर चलती रहती हैं। एक इच्छा मन में उठती है कि दूसरी इच्छा आक्रमण करने के लिए तैयार रहती है। ऐसी स्थिति में क्या संभव है कि व्यक्ति अपने भीतर उठने वाली प्रत्येक इच्छा को पूर्ण करके सुखी जीवन जी सके?

प्रतिस्पर्धा के इस युग ने व्यक्ति के भीतर इच्छाओं के स्रोत तेजी से खोले हैं। वैश्वीकरण ने व्यक्ति के भीतर प्रतिस्पर्धा के भाव उत्पन्न कर अनेक समस्याओं, आकांक्षाओं को आमंत्रित किया है। इन इच्छाओं ने व्यक्ति के भीतर विषमताओं का जाल-सा बिछा दिया है और उससे निकलने का रास्ता भी नजर नहीं आ रहा है।

इच्छाओं का अतिरेक व्यक्ति के भीतर विषमताएं उत्पन्न करता है। उसे ऐसे चौराहे पर लाकर खड़ा कर देता है कि व्यक्ति असमंजस की स्थिति में अपने लक्ष्य से भटक जाता है। लक्ष्य-निर्धारण में अक्षमता का अनुभव करने लगता है। अनेक इच्छाओं के बीच विचारों को संतुलित रखना कठिन होता है। अतः अनावश्यक विचारों पर नियंत्रण आवश्यक है।

सकारात्मक विचार इच्छाओं पर नियंत्रण करने में सहायक होते हैं। विचार जितने सकारात्मक और पवित्र होंगे, भाव भी उतने पवित्र रहेंगे।

चेतना की विशुद्धि

चेतना में विकृति ही अनावश्यक इच्छाएं उत्पन्न करती है। शरीर, मन और भाव—ये तीनों हमारी चेतना के आधार बिंदु हैं। इन तीनों में महत्त्वपूर्ण है—भाव-शुद्धि। भाव-शुद्धि जितनी प्रबल होगी, चित्त उतना ही शुद्ध रहेगा। यदि चित्त शुद्ध होगा या नियंत्रित रहेगा तो इच्छाओं का आक्रमण नहीं हो सकेगा। इच्छाओं के अतिक्रमण से ही हमारे भाव असंतुलित होते

हैं। तब चित्त में आकांक्षाओं तथा कामनाओं का उफान आता है। चित्त के विकारग्रस्त होने पर धातुएं नष्ट होने लगती हैं। इसलिए आवश्यक है कि चित्त को विकार से मुक्त रखा जाए। स्वस्थ और निर्विकार चित्त में ही सद्बुद्धि उत्पन्न होती है। अतः चेतना की विशुद्धि के लिए इच्छाओं पर अंकुश होना चाहिए।

आज व्यक्ति भाव की बजाय शरीर-सुविधा पर ज्यादा ध्यान केंद्रित करता है। शरीर की पूर्ति के लिए भावों को अपवित्र करना कितना उचित है—यह बुनियादी प्रश्न है। शरीर की आवश्यकता पूर्ति विशुद्ध साधनों के द्वारा ही होनी चाहिए। इसके लिए इच्छाओं पर अनुशासन आवश्यक है। चेतना की विशुद्धि तभी संभव है।

सम्यक् विचार

विज्ञान के मत से यह माना जाता है कि प्रकाश का वेग एक सैकिंड में एक लाख 86 हजार मील है और विद्युत का वेग 2 लाख 88 हजार मील है, जबकि विचारों का वेग 22 लाख 65 हजार 120 मील प्रति सैकिंड है। इतनी तीव्र गति से मस्तिष्क के भीतर विचारों का वेग चलता है।

हमारे भीतर दो प्रकार के विचार निरंतर गतिमान रहते हैं—नकारात्मक और सकारात्मक। दोनों की गति का वेग तीव्र होता है। नकारात्मक विचारों की गति का वेग निरंतर प्रवाहित रहता है। अधिक इच्छाएं नकारात्मक विचारों को जन्म देती हैं और नकारात्मक विचार दुख को जन्म देते हैं। जब इच्छा के मुताबिक कार्य की संपन्नता नहीं होती है, तब व्यक्ति की चिंतनधारा बदल जाती है और वह नकारात्मक सोचने लगता है। अनावश्यक विचारों, बुरे विचारों और नकारात्मक विचारों पर अंकुश लगाना चाहिए।

इच्छाओं का अतिरेक व्यक्ति के भीतर विषमताएं उत्पन्न करता है। उसे ऐसे चौराहे पर लाकर खड़ा कर देता है कि व्यक्ति असमंजस की स्थिति में अपने लक्ष्य से भटक जाता है। लक्ष्य-निर्धारण में अक्षमता का अनुभव करने लगता है। अनेक इच्छाओं के बीच विचारों को संतुलित रखना कठिन होता है। अतः अनावश्यक विचारों पर नियंत्रण आवश्यक है।

सकारात्मक विचार इच्छाओं पर नियंत्रण करने में सहायक होते हैं। विचार जितने सकारात्मक और पवित्र होंगे, भाव भी उतने पवित्र रहेंगे।

सम्यक् स्वास्थ्य

इच्छा की बहुलता का प्रभाव शारीरिक, मानसिक तथा भावनात्मक—तीनों स्तरों पर पड़ता है। हमारे भीतर अनेक प्रकार के स्राव उत्पन्न होते हैं। स्राव उत्पन्न होते हैं—भावों के आधार पर। इनके आधार पर शरीर का संतुलन बनता है। ये स्राव यदि संतुलित हैं तो शरीर भी स्वस्थ रहता है। एक सूक्त है कि जैसा भाव, वैसा ही स्राव। इच्छाओं के अनियंत्रण से स्राव प्रभावित होते हैं। असंतुलित स्रावों के कारण भाव, मन और शरीर—तीनों प्रभावित होते हैं। अवसाद, अन्यमनस्कता, चिड़चिड़ापन आदि मानसिक रोग भी इच्छाओं, आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं होने से उत्पन्न होते हैं। फिर ये बीमारियों का रूप ग्रहण करते हैं और शरीर पर आक्रमण करने लगते हैं।

सम्यक् स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति इच्छाओं का गुलाम न होकर, इच्छाओं को गुलाम बनाकर रखे।

इच्छा निरोध

इच्छा बहुविहा लोये, जाए बद्धो किलिस्सति।
तम्हा इच्छामणिच्छाए, जिणित्ता सुहमेधति।।

लोक में इच्छाएं अनेक प्रकार की हैं। समस्या का मूल है—इच्छा। उनसे बंध कर जीव बहुत क्लेश पाता है, इसलिए इच्छा को जीकर ही मनुष्य सुख पा सकता है। इच्छा का निरोध जरूरी है। इच्छा-निरोध से ही व्यक्ति लक्ष्य की ऊंचाई को पा सकता है। यदि मूल का इलाज हो जाए तो व्यक्ति अनेक समस्याओं से सहज निजात पा सकता है। अनावश्यक इच्छाओं पर कैसे अंकुश लगे, इस पर व्यक्ति को ध्यान केंद्रित करना चाहिए।

जब चाह या तृष्णा सदा बढ़ती है तो एक के बाद एक नई-नई मांग तैयार रहती है। किसी संत ने कहा है—

जो दस बीस पचास भये
सत होय हजार तो लाख मंगेगी
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य धरापति
होने की चाह जगेगी
स्वर्ग पताल को राज करूं
तृष्णा अधिकी उर और जगेगी
सुंदर एक संतोष बिना
नर तेरी भूख कभी न भगेगी।

जाहिर है, इच्छाओं का संसार बड़ा विशाल है। व्यक्ति यदि सुखी रहना चाहता है तो उसे संतोष को धारण करना ही चाहिए। मन को इच्छाओं के विपरीत मोड़ने का प्रयास करना चाहिए।

विप्लव क्यों होता है

इच्छाओं को दूसरों पर थोपने से प्रति-हिंसा उत्पन्न होती है और अपराध की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। व्यक्ति की अनियंत्रित इच्छा के कारण समाज में विप्लव की स्थिति बनती है। अमीर और गरीब की दूरियां भी सामाजिक विषमताओं के ही कारण हैं। आज अमीर, अमीर होता जा रहा है और गरीब, गरीब होता जा रहा है। एक तरफ 'फाइव-स्टार' जैसा बंगला, तो दूसरी तरफ सिर पर छत भी नहीं। एक तरफ शादियों में लाखों-करोड़ों रुपए की बरबादी, तो दूसरी तरफ दो समय का भोजन भी नसीब नहीं। ऐसी ही विषमताएं समाज में विद्रोह उत्पन्न करती हैं।

तन की तृष्णा तनिक है, तीन पाव के सेर
मन की तृष्णा अनंत है गिलै मेर का मेर

सचमुच मन की तृष्णा अनंत है, असीमित है जो कभी मिटती नहीं है। सामाजिक विप्लव को रोकने के लिए इच्छाओं का संतुलन आवश्यक है। इसी से असमानता को पाटा जा सकता है।

विवेक-जागरण

मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसके भीतर में विवेक की चेतना है, लेकिन व्यवहार के धरातल पर वह उसका उपयोग कम ही कर पाता है। इच्छा प्रतिक्षण बदलती रहती है। ऐसी स्थिति में विवेक जरूरी है। कौनसी इच्छा प्रेय है और कौनसी श्रेय? इच्छा के बिना व्यक्ति जी नहीं सकता—यह जितना सत्य है, उतना ही सत्य यह भी है कि अति-इच्छा रखकर भी कोई सुख से नहीं जी सकता।

एक घटना द्रष्टव्य है—किसी राजा ने खुश होकर एक व्यक्ति से कहा कि जितनी जमीन तुम अपने पांवों से सुबह से शाम तक नाप सकते हो, नाप लो। वह सारी जमीन तुम्हारी हो जाएगी। वह व्यक्ति सुबह से शाम तक अविरल गति से दौड़ता रहा। शाम होते-होते वह रुका और रुकते ही गिर गया और मर गया। अति-इच्छा ने उसे जीने भी नहीं दिया। ऐसी इच्छा किस काम की जो जीने भी नहीं दे? इसलिए यह विवेक होना महत्त्वपूर्ण है कि कौनसी इच्छा श्रेयस्कर है। आवश्यक और अनावश्यक इच्छा का ज्ञान होना जरूरी है। अनावश्यक इच्छाएं व्यक्ति के मस्तिष्क की ऊर्जा को कम करती हैं। इसलिए विवेक की चेतना का जागरण होना आवश्यक है।

इच्छा पर विजय पाना कठिन है, लेकिन असंभव नहीं है। हित-अहित का ज्ञान इच्छा-नियंत्रण में सहायक हो सकता है। प्रवाह के विपरीत साहसी व्यक्ति ही जा सकता है। इसी तरह साहसी व्यक्ति ही इच्छा पर विजय पा सकता है। सम्यक् आचार, सम्यक् विचार, सम्यक् स्वास्थ्य, सम्यक् चित्त-शुद्धि के लिए इच्छा-नियंत्रण, इच्छा पर अंकुश लगाना व्यक्ति के लिए श्रेयस्कर होगा। निर्विचार की स्थिति तक पहुंचने के लिए भी इच्छा का निरोध आवश्यक है। ❖

यह बहुत पुराना और व्यापक विश्वास है कि इस जगत का कोई कर्ता है, किसी ने इसे बनाया है। यह देख ही पड़ता है कि बहुत–सी बाधाओं के रहते हुए भी मनुष्य जी रहा है, पशु–पक्षी जी रहे हैं, नक्षत्र, सूर्य, चंद्र, पहाड़, समुद्र सभी बने हुए हैं, अतः जगत का पालन भी हो रहा है। इस बात के मानने में लाघव होता है कि जो कर्ता है, वही पालक है। इसी प्रकार यह भी माना जाता है कि वही एक दिन जगत का संहार भी करेगा। इस कर्ता–पाता–संहर्ता को ईश्वर कहते हैं।

ईश्वर प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अतः उसका ज्ञान अनुमान और शब्द–प्रमाण से ही हो सकता है। जब तक सर्वसम्मत आप्तपुरुष निश्चित न हो जाए तब तक शब्द–प्रमाण से काम नहीं लिया जा सकता। विभिन्न संप्रदायों में जो लोग आप्त माने गए हैं, उनका ईश्वर के संबंध में ऐक्यमत नहीं है। जो लोग ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते उनमें कपिल, जैमिनि, बुद्ध और महावीर जैसे प्रतिष्ठित आचार्य हैं। अतः हमको शब्द–प्रमाण का सहारा छोड़ना होगा। अब केवल अनुमान रह गया। ईश्वर की सत्ता में यह हेतु बतलाया जाता है कि प्रत्येक वस्तु का कोई–न–कोई रचयिता होता है, इसलिए जगत का भी कोई रचयिता होना चाहिए। इस अनुमान में कई दोष हैं। हम यदि यह मान लें कि प्रत्येक वस्तु का कर्ता होता है, तो फिर वस्तु होने से ईश्वर का भी कर्ता होगा और उसका कोई दूसरा कर्ता, दूसरे का तीसरा। यह परंपरा कहीं समाप्त न होगी। ऐसे तर्क में अनवस्था–दोष होता है। इससे ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

—डॉ. सम्पूर्णानन्द

केवट

हरमन हैस

सिद्धार्थ आह्लादित स्वर में बोला। इस खोज ने उसे अत्यंत आह्लादित कर दिया था। तो क्या प्रत्येक दुख की प्रतीति समय-सापेक्ष नहीं है? समस्त आत्म-पीड़न और भय समय में स्थित नहीं हैं? क्या वह व्यक्ति, जो समय पर विजय कर ले और समय से भय को विदीर्ण कर दे, तो संसार की समस्त बाधाओं और दुनिया के समस्त असद् पर विजय प्राप्त नहीं कर लेगा? वह उछाह के साथ बोल रहा था, किंतु वासुदेव केवल एक उज्ज्वल मुस्कान मुंह पर लिए उसकी ओर देख रहा था और स्वीकार-भावना से सिर ही हिलाता रहा था। उसने सिद्धार्थ की पीठ थपथपाई और जाकर काम में लग गया।

सिद्धार्थ ने सोचा, अब मैं इस नदी पर ही रहूंगा। यही वह नदी है, जिसे पार करके मैं नगर में गया था। एक सज्जन केवट ने मुझे पार उतारा था। मैं उसी के पास जाऊंगा। मेरे नए जीवन का मार्ग उसी की झोंपड़ी से प्रारंभ हुआ था, अब वह जीवन पुराना—मृतक हो चुका है। मेरा नया मार्ग, मेरा नवीन जीवन, उसी स्थान से फिर क्यों न प्रारंभ हो!

उसने प्रेम-भावना से प्रवहमान जल की ओर देखा, जल पारदर्शी और हरितवर्ण था, उसकी स्फटिक तरंगें एक विचित्र योजना से क्रीड़ा कर रही थीं, वह देख रहा था कि तल में नए मोती जगमगा रहे थे, मुकुर पर बुद्‌बुद तैर रहे थे और नीले आकाश में उनकी प्रतिछवि अंकित हो रही थी, नदी सहस्र नेत्रों से उसकी ओर निहार रही थी, ये नेत्र हरित, शुभ्र, बिल्लौरी और आकाश के समान सुनील वर्ण के थे; वह उस नदी को कितना प्यार करता था, यह किस तरह उसे मोहित कर सकी थी, वह उसका कितना कृतज्ञ था! अपने हृदय में उसने नव-जाग्रत ध्वनि की गूंज सुनी जो उससे कह रही थी, 'इस नदी को प्रेम करो, इसी के पास ठहरो, और इससे सीखो।' हां, वह उससे सीखना चाहता था, वह उसकी भाषा को सुनना चाहता था। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि जो उस नदी और उसके रहस्यों को समझ सकेगा, वह बहुत-कुछ समझ सकेगा, अनेक रहस्यों को समझ सकेगा, समस्त रहस्यों को समझ सकेगा।

आज उसने नदी का केवल एक ही रहस्य देखा था और उसने उसकी आत्मा को जकड़ लिया था। उसने देखा कि जल निरंतर प्रवाहित हो रहा है। बहता जाता है; फिर भी सदैव वहीं उपस्थित रहता है। वह सदा ही एक-सा होता है और फिर भी प्रत्येक क्षण वह नवीन हो जाता है। इसे कौन समझ सकता है, कौन इसके यथार्थ की परिकल्पना कर सकता है। वह उस रहस्य को समझ नहीं पाता था, केवल एक धुंधले संदेह का उसे भान होता था, एक क्षीण स्मृति और अलौकिक ध्वनियों का उसे कुछ बोध होता था।

सिद्धार्थ उठ खड़ा हुआ। क्षुधा की कचोट अब असह्य होती जा रही थी। वह पीड़ा को सहेजे नदी-तट पर घूमता रहा, जल की तरंगों का नाद

सुनता रहा और अपनी देह कुतरने वाली भूख की आवाज को भी सुनता रहा।

वह नौका के निकट पहुंचा, जो किनारे पर पहले से उपस्थित थी और वह केवट, जो कभी इस युवक श्रमण को पार ले गया था, नौका में खड़ा हुआ था। सिद्धार्थ ने उसे पहचान लिया—बुढ़ापा उस पर भी पर्याप्त रूप में स्पष्ट हो चुका था।

'क्या तुम मुझे पार उतार दोगे?'—उसने पूछा।

केवट उस महापुरुष-से दीख पड़ने वाले आदमी को एकाकी और पैदल आते देखकर चकित हुआ, उसे नौका में बैठाया और पार उतारने के लिए रवाना हो गया।

'तुमने एक शानदार जीवन अपने लिए चुना है',—सिद्धार्थ ने कहा, 'इस नदी पर रहना और नित्यप्रति इसमें विहार करना कितना सुखद है!'

केवट मुस्कराया; हल्के-हल्के वह अपनी पतवार चलाता रहा।

'यह काम बहुत अच्छा है, जैसा कि आप कहते हैं, परंतु क्या प्रत्येक जीवन, प्रत्येक काम इसी की तरह अच्छा नहीं होता?'

'हो सकता है, परंतु तुम्हारे काम से मुझे ईर्ष्या होती है।'

'ओह! इस कार्य की प्रियता बहुत शीघ्र आपके लिए नष्ट हो जाएगी। यह काम इतने बहुमूल्य वस्त्रालंकार धारण करने वालों के लिए नहीं है।'

सिद्धार्थ हंस पड़ा, 'आज ही' एक बार और भी वस्त्रों को देखकर मेरे बारे में निर्णय किया जा चुका है और संदेह की दृष्टि से मुझे देखा गया है। क्या तुम इन वस्त्रों का उपहास मुझ से प्राप्त करना स्वीकार करोगे जो कि मेरे लिए झंझट बने हुए हैं? क्योंकि मैं तुम्हें यह स्पष्ट कह देना चाहता हूं कि पार उतारने के लिए तुम्हें देने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है।'

'भद्र, आप मेरे साथ उपहास कर रहे हैं?'—केवट ने कहा।

'मैं उपहास नहीं कर रहा हूं, मेरे मित्र! तुमने एक बार और भी निःशुल्क मुझे नदी के पार उतारा था, इसलिए कृपापूर्वक आज भी पार उतार दो और इस कार्य के लिए तुम मेरे वस्त्र स्वीकार करो।'

'तो क्या भद्र बिना वस्त्रों के ही अपने मार्ग पर अग्रसर होंगे?'

'मैं तो चाहूंगा कि मैं आगे न जाऊं। मैं यह भी चाहूंगा कि तुम मुझे कुछ पुराने कपड़े दे दो और मुझे अपने सहायक के रूप में रख लो, या केवल सहायक के रूप में, क्योंकि मैं नाव चलाना नहीं जानता हूं।'

केवट बहुत देर तक इस अजनबी की ओर ध्यानपूर्वक देखता रहा।

'मैं आपको पहचान गया हूं,' उसने कहा, 'आप एक बार मेरी झोंपड़ी में सो चुके हैं। लेकिन यह बहुत दिनों की बात है, हो सकता है बीस वर्ष से अधिक पहले की बात हो। तब मैंने सुबह आपको पार उतारा था और हम मित्र बनकर एक-दूसरे से विदा हुए थे। क्या उस समय आप श्रमण नहीं थे? आपका नाम तो मुझे स्मरण नहीं आ रहा है।'

'मेरा नाम सिद्धार्थ है और पिछली बार जब तुमने मुझे देखा था तो मैं श्रमण ही था।'

'तुम्हारा स्वागत है सिद्धार्थ! मेरा नाम वासुदेव है। आज तुम मेरे मेहमान रहोगे और मेरी झोंपड़ी में फिर सोओगे, और मुझे बताओगे कि तुम कहां से आ रहे हो और इन बढ़िया वस्त्रों से क्यों तंग आ गए हो।'

वे नदी के मध्य में पहुंच चुके थे और तेज धार आ जाने के कारण वासुदेव अधिक बल लगाकर पतवार चला रहा था। अपनी सुदृढ़ भुजाओं द्वारा धैर्यपूर्वक डांड चला रहा था और उसकी दृष्टि नौका के छोर पर लगी हुई थी। सिद्धार्थ बैठे-बैठे उसे देखता रहा और उसे याद आया कि किस प्रकार अपने श्रमण-जीवन में इस आदमी के प्रति उसके अंतर में प्रेम उमड़ आया था। उसने कृतज्ञतापूर्वक वासुदेव का निमंत्रण स्वीकार कर लिया। जब वे तट पर पहुंच गए तो उसने नौका को तट पर बांध देने में वासुदेव की सहायता की। तब वासुदेव उसे झोंपड़ी में ले गया। उसके सम्मुख भोजन और जल प्रस्तुत किया। सिद्धार्थ ने सब-कुछ आनंदपूर्वक स्वीकार किया और वह आम भी मजे से खाया जो वासुदेव ने उसे दिया।

बाद में जब सूर्य अस्त होने लगा तो वे नदी के निकट एक वृक्ष के तने पर बैठ गए। सिद्धार्थ ने उसे अपने जन्म, जीवन और निराशा के क्षणों में उसने अपने-आप को किस रूप में देखा, वह सारी कहानी सुना दी। कहानी समाप्त होते-होते रात काफी गहरी हो चुकी थी।

वासुदेव अत्यंत दत्तचित्त होकर वह कहानी सुनता रहा, उसने उसके जन्म और बाल्यकाल के बारे में सब-कुछ सुना, उसके अध्ययन और उसकी खोज, उसके भोग-विलास और आवश्यकताओं के बारे में सब-कुछ सुना। केवट में एक महान गुण था कि वह धैर्यपूर्वक दूसरे की बात सुन सकता था। सिद्धार्थ ने अनुभव किया था कि यद्यपि वासुदेव एक शब्द नहीं बोला था, किंतु उसने प्रत्येक शब्द शांतिपूर्वक और आशान्वित होकर सुना था और उसने सब-कुछ समझ भी लिया था। उसने कुछ भी कहने की आतुरता प्रकट न की और न प्रशंसा की, न अप्रशंसा—वह केवल सुनता रहा। सिद्धार्थ ने अनुभव किया कि ऐसा श्रोता प्राप्त होना कितना आश्चर्यजनक सौभाग्य है, जिसे उसके अपने जीवन में, अपने प्रयत्नों में और अपने दुखों में आत्मसात किया जा सकता है।

तथापि जब सिद्धार्थ अपनी कहानी का अंतिम भाग कह रहा था और नदी के निकटस्थ वृक्ष और अपनी महान निराशा का वर्णन कर रहा था और पवित्र ओ३म् का वर्णन कर रहा था और अपनी नींद के बाद उसने किस तरह नदी के प्रति प्रेम अनुभव किया था; यह सब बता रहा था, तो केवट ने ध्यान को और भी एकाग्र कर लिया था, वह पूर्णतः निमग्न हो चुका था, उसके नेत्र मुंद गए थे।

जब सिद्धार्थ समाप्त कर चुका तो काफी देर तक खामोशी रही, फिर वासुदेव ने कहा—'जैसा मैं सोचता था, वैसा ही हुआ। नदी ने तुमसे वार्ता की है। तुम्हारे प्रति भी इसका मैत्री-भाव है, यह तुम से बोलती है। यह अच्छा है, बहुत अच्छा है। मेरे साथ ठहरो, मेरे मित्र सिद्धार्थ! जब मेरी पत्नी थी, उसका और मेरा बिस्तर साथ ही साथ बिछता था, बहुत दिन हुए वह मर गई। बहुत दिन से मैं एकाकी जीवन व्यतीत कर रहा हूं, आओ और मेरे साथ रहो, हमारे दोनों के लिए स्थान और भोजन काफी मात्रा में उपलब्ध हो सकेगा।'

'मैं तुम्हारा आभार मानता हूं,' सिद्धार्थ ने कहा—'मैं धन्यवाद सहित तुम्हारा निमंत्रण स्वीकार करता हूं। मैं इतने संतोषपूर्वक अपनी बात सुनने के लिए भी तुम्हारा कृतज्ञ हूं। बहुत थोड़े लोग होते हैं जो धैर्यपूर्वक किसी की बात सुन सकते हैं। आज तक मुझे ऐसा आदमी नहीं मिला जो तुम्हारी तरह दूसरे की बात सुन सके। इस दिशा में भी मुझे तुमसे बहुत-कुछ सीखना है।'

'तुम सीखोगे,' वासुदेव ने कहा—'लेकिन मुझसे नहीं। नदी ने मुझे सुनना सिखाया है, तुम भी उससे सीख लोगे। नदी सब-कुछ जानती है, आदमी नदी से सब-कुछ सीख सकता है। तुम नदी से यह तो सीख भी चुके हो कि तल की ओर चेष्टा करना उत्तम है, डूबना और गहराई को पहुंचना बहुत उत्तम है। समृद्ध और सावंत सिद्धार्थ एक मल्लाह बनेगा, विद्वान ब्राह्मण सिद्ध एक केवट बनेगा। तुमने यह सब नदी से सीखा है, तुम और कुछ भी अवश्य सीख लोगे।'

बहुत देर चुप रहने के बाद सिद्धार्थ ने कहा, 'और कुछ भी क्या, वासुदेव?' वासुदेव अब उठ खड़ा हुआ। 'बहुत रात हो गई,' उसने कहा, 'अब हमें सो जाना चाहिए। मैं तुम्हें बता नहीं सकता, मेरे मित्र, कि वह और कुछ क्या है? तुम स्वयं जान लोगे, शायद तुम पहले से ही जानते हो। मैं विद्वान नहीं हूं, मैं बातचीत करना अथवा विचार करना नहीं जानता। मैं तो केवल सुनना और अनुरक्त होना जानता हूं, अन्यथा मैंने कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं किया है। यदि मैं बोल सकता और उपदेश कर सकता तो शायद मैं उपदेष्टा होता, लेकिन वास्तविकता यह है कि मैं एक नाविक मात्र हूं और मेरा काम लोगों को पार उतारना है। मैंने हजारों लोगों को पार उतारा है और उनके लिए यह नदी उनके मार्ग में एक बाधा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रही है। उनमें अनेक यात्री पैसे और व्यापार के लिए निकले थे, कुछ वर-यात्रा और कुछ तीर्थ-यात्रा पर निकले थे, यह नदी उनके रास्ते में आई थी और नाविक ने शीघ्रतापूर्वक उन्हें इस बाधा के पार उतार दिया था। तथापि उन हजारों में कुछ ऐसे थे, चार या पांच, जिनके लिए यह नदी बाधा नहीं थी। उन्होंने इसकी आवाज सुनी थी और उस पर ध्यान दिया था और उनके लिए मेरी ही तरह यह नदी भी एक पवित्र नदी बन गई थी। अब आओ, चलकर सोएं, सिद्धार्थ!'

सिद्धार्थ इस नाविक के पास ही ठहर गया। उसने नाव की देखभाल करना भी सीख लिया, जब नाव पर काम नहीं होता तो वह धान के खेत में वासुदेव के साथ काम करता, लकड़ी बीन कर लाता और केले तोड़ कर उससे पतवार बनाना, नाव की मरम्मत करना और टोकरियां बनाना सीख लिया। जो-कुछ वह करता, उसी में उसे सुख मिलता, काम करता और सीखता, और इस प्रकार मास और वर्ष शीघ्रता के साथ व्यतीत होते गए।

लेकिन वासुदेव से प्राप्त होने वाले ज्ञान की अपेक्षा उसने नदी से बहुत अधिक सीखा। वह निरंतर सीखता जाता था। सर्वोपरि उसने यह सीख ग्रहण की कि किस प्रकार तन्मयता के साथ सुनना चाहिए, खुली आत्मा से, धैर्यपूर्वक, बिना वासना के, बिना इच्छा के, बिना निर्णय और बिना सम्मति दिए किस प्रकार सुना जा सकता है।

वह वासुदेव के साथ आनंदपूर्वक रह रहा था। वे कभी-कभी परस्पर बातचीत भी करते, बहुत थोड़ी, किंतु वर्षों की चिंता में से निकले हुए वे शब्द होते। वासुदेव का शब्दों से बहुत अधिक लगाव नहीं था। सिद्धार्थ कभी-कभी ही उसे बोलने की प्रेरणा देने में सफल हो पाता था।

सिद्धार्थ ने एक बार उससे पूछा, 'क्या नदी से तुमने यह भी सीखा है कि समय जैसी कोई वस्तु नहीं होती?'

एक उज्ज्वल मुस्कान वासुदेव के चेहरे पर बिखर गई।

'हां सिद्धार्थ,' उसने कहा, 'क्या तुम्हारा भी यही विचार है कि नदी एक ही समय में सर्वत्र व्याप्त है, उद्‌गम स्थान पर भी और संगम पर भी, प्रपात में भी और नौका के निकट भी, धारा में, सागर में और पर्वत में भी, सब जगह ही, केवल वर्तमान का ही उसके लिए अस्तित्व है, भूत की छाया तक नहीं और भविष्य की परछाईं तक नहीं?'

'यही तो,' सिद्धार्थ ने कहा, 'और जिस समय मैंने यह जाना तो मैंने अपने समस्त जीवन का सिंहावलोकन किया और मेरा जीवन बिलकुल इस सरिता की तरह ही निकला। बालक सिद्धार्थ, प्रौढ़ सिद्धार्थ और आज का बूढ़ा सिद्धार्थ, केवल छायाओं के द्वारा ही एक-दूसरे से विभिन्न थे, यथार्थ में नहीं। सिद्धार्थ के पूर्व-जन्म भी भूतगत नहीं थे और उसकी मृत्यु और ब्रह्म के प्रति आवर्तन भी भविष्य की वस्तु नहीं है, कुछ भी नहीं होगा, प्रत्येक वस्तु यथार्थ है और प्रत्येक वस्तु उपस्थित है।'

सिद्धार्थ आह्लादित स्वर में बोला। इस खोज ने उसे अत्यंत आह्लादित कर दिया था। तो क्या प्रत्येक दुख की प्रतीति समय-सापेक्ष नहीं है? समस्त आत्म-पीड़न और भय समय में स्थित नहीं हैं? क्या वह व्यक्ति, जो समय पर विजय कर ले और समय से भय को विदीर्ण कर दे, तो संसार की समस्त बाधाओं और दुनिया के समस्त असद् पर विजय प्राप्त नहीं कर लेगा? वह उछाह के साथ बोल रहा था, किंतु वासुदेव केवल एक उज्ज्वल मुस्कान मुंह पर लिए उसकी ओर देख रहा था और स्वीकार-भावना से सिर ही हिलाता रहा था। उसने सिद्धार्थ की पीठ थपथपाई और जाकर काम में लग गया।

और एक बार जब बरसात के मौसम में सरिता में सैलाब आया और वह गंभीर गर्जना करके बढ़ आई, तो सिद्धार्थ ने कहा, 'क्या यह सत्य नहीं है, मेरे मित्र, कि नदी की अनेक आवाजें होती हैं? क्या इसके स्वर में एक सम्राट्, योद्धा, सांड, रात्रिचारी पक्षी (संभवतः उलूक), एक गर्भवती महिला और आह भरते हुए आदमी के स्वर के सादृश नहीं होता तथा सहस्र दूसरी आवाजों के साथ!'

'ठीक कहते हो,'—वासुदेव ने स्वीकृति-सूचक सिर हिलाया, 'समस्त प्राणियों का स्वर उसके स्वर में समाहित है?'

'और क्या तुम यह जानते हो?'—सिद्धार्थ ने कहना जारी रखा, 'कि अगर इसके दस हजार स्वरों को एक साथ समझने में कोई सफल हो जाए तो यह कौन-सा शब्द बोलती प्रतीत होती है?'

वासुदेव आनंदपूर्ण हास्य में विभोर हो गया। वह सिद्धार्थ की ओर झुका और उसके कानों में फुसफुसाया—'ओ३म्', और ठीक यही वह शब्द था जिसका सिद्धार्थ ने अध्ययन किया था।

ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया, उसकी मुस्कान केवट की मुस्कान की अनुरूपता धारण करने लगी। उसी के समान आभायुक्त, सहस्रों छोटी-छोटी झुर्रियों में प्रकाश भरती हुई, उसी के समान शिशुवत और उसी के समान वृद्धावस्था की सूचक! अनेक यात्री, जो दोनों नाविकों को साथ-साथ देखते, उन्हें भाई-भाई समझते थे। बहुधा शाम को वे दोनों साथ-साथ पेड़ के तने पर बैठते। वे दोनों खामोशी के साथ जल के स्वर को सुनते, जो उनके लिए केवल जल का स्वरमात्र नहीं था, वरन जीवन का स्वर था, विराट् का स्वर था और वेदना का स्वर था। बहुधा ऐसा होता कि एक साथ जल के स्वर को सुनते-सुनते वे समान विचार करते हुए होते, शायद बीते क्षण की वार्ता का ही कोई अंश होता या किसी-न-किसी यात्री के बारे में होता, जिसका भाग्य और परिस्थितियां उनके मस्तिष्क पर छाए होते, या मृत्यु अथवा बाल्य-जीवन और जबकि नदी उन्हें एक साथ ही कुछ उत्तम बात कहती, वे एक-दूसरे की ओर देखते, एक ही विचार

पर चिंतन करते हुए, दोनों एक ही प्रश्न का एक ही उत्तर एक-दूसरे से पाकर अत्यंत प्रसन्न होते।

इस नौका और उन दोनों नाविकों में से कुछ प्रकीर्ण होता हुआ प्रतीत होता जिसे अनेक यात्री अनुभव कर चुके थे। बहुधा ऐसा होता कि कोई यात्री नाविकों में से किसी एक की ओर देखता और अपने जीवन और अपनी कठिनाइयों के बारे में कहना प्रारंभ कर देता, अपने पापों को अंगीकार करने लगता और उनसे सांत्वना और परामर्श की याचना करता। कभी ऐसा होता कि कोई यात्री रात्रि को उनके साथ विश्राम करने की अनुमति मांगता ताकि वह नदी का स्वर सुन सके। कभी-कभी यह भी होता कि कुछ जिज्ञासु लोग यह सुनकर कि दो बुद्धिमान लोग, जादूगर अथवा महात्मा लोग घाट पर आए हुए हैं, सत्संग के लिए आ पहुंचते। ये जिज्ञासु लोग अनेक प्रश्न पूछते, किंतु उनके प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता, उन्हें न कहीं जादूगर दीख पड़ते और न बुद्धिमान आदमी। उन्हें दो अच्छे स्वभाव के आदमी जरूर मिलते, जो बहुधा मौन रहना पसंद करते और अटपटे और गंवार-से लगते। और ये जिज्ञासु लोग हंसते और कहते, 'लोग कितने मूर्ख और अंधभक्त हैं कि इस प्रकार की अफवाहें उड़ाते हैं।'

वर्ष गुजरते गए, कोई भी उनकी गणना नहीं करता। एक दिन कुछ साधु आए; वे गौतम बुद्ध के अनुयायी थे, और नदी के पार उतारने के लिए कह रहे थे। नाविकों को इन यात्रियों से विदित हुआ कि वे अपने महान गुरु के दर्शन करने जा रहे हैं और शीघ्र-से-शीघ्र वहां पहुंचने के आकांक्षी हैं। क्योंकि अर्हत सख्त बीमार हैं और शीघ्र ही इहलोक-यात्रा समाप्त करके निर्वाण को प्राप्त होंगे। उसके शीघ्र ही बाद साधुओं की एक दूसरी जमात और फिर तीसरी टुकड़ी आई और साधु तथा दूसरे यात्री गौतम बुद्ध की मृत्यु को छोड़कर दूसरी किसी भी चीज पर बात नहीं करते थे। लोग जिस प्रकार किसी सैनिक अभियान अथवा सम्राट् के राजतिलक के अवसर पर एकत्रित होते हैं, उसी प्रकार वे मधु-मक्खियों के झुंड की तरह एकत्रित हो रहे थे, किसी मकनतीस के समान एक स्थान पर खिंचते जा रहे थे। उस स्थान पर जाने के लिए, जहां बुद्ध मृत्यु-शैया पर लेटा हुआ था, जहां यह महान घटना घटित हो रही थी और जहां युग का एक महान संत्राता अनंत में विलीन हो रहा था।

इस समय सिद्धार्थ ने मुमूर्षु संत के बारे में बहुत-कुछ सोचा; जिसकी वाणी ने हजारों आत्माओं को आंदोलित कर दिया था, जिसकी वाणी को उसने स्वयं भी एक बार सुना है और जिसकी मुखाकृति की ओर उसने भय और आदर के साथ देखा है। उसने प्रेमपूर्वक उसका स्मरण किया, उसका निर्वाण का मार्ग स्मरण किया और फिर मुस्कान के साथ उसने उन शब्दों को स्मरण किया जो उसने अर्हत के सम्मुख कहे थे। उसे लगा कि वे शब्द अतिशय दर्पयुक्त और छोटे मुंह में बड़ी बात थे। बहुत समय तक उसे ऐसा अनुभव होता रहा कि वह गौतम से अलग नहीं है, हालांकि वह उसके उपदेश को ग्रहण नहीं कर सकता था। नहीं, एक सच्चा अन्वेषी किसी भी धर्म को ग्रहण नहीं कर सकता, वस्तुतः वह ईमानदारी से किसी चीज को खोज लेना चाहता है। लेकिन जिसने कुछ पा लिया है, वह प्रत्येक मार्ग, प्रत्येक लक्ष्य को अपना समर्थन प्रदान कर सकता है, उन सहस्रों से, जो अनंत में निवास करते हैं और परम पद को प्राप्त हो चुके हैं, कोई भी वस्तु उसे अलग नहीं कर सकती।

एक दिन जब म्रियमाण बुद्ध के दर्शन करने के लिए जाने वाले बहुत अधिक यात्री आए, कमला, जो कभी अन्यतम सुंदरी नर्तकी रह चुकी है, वह भी यात्रियों में दिखाई दी। बहुत समय पहले उसने अपने पूर्व-जीवन से संन्यास ले लिया था, उसने अपना उद्यान गौतम के भिक्षुओं को दे दिया था, उसके धर्म की शरण ग्रहण कर ली थी और उन स्त्रियों में एक थी, जो यात्रियों के कल्याण के लिए उनके साथ थीं। गौतम की आसन्न मृत्यु का समाचार सुनकर वह पैदल ही यात्रा पर रवाना हो गई, अपने पुत्र के साथ, अत्यंत सामान्य वेशभूषा में। यात्रा करते-करते वे नदी तक आ पहुंचे, किंतु लड़का शीघ्र ही थक गया, वह घर जाना चाहता था, आराम करना चाहता था, वह भोजन करना चाहता था। वह बहुधा आगे बढ़ने से ठिठकता और रोता। कमला को बहुधा उसके साथ विश्राम करने के लिए रुकना पड़ता। वह अपनी इच्छा के सम्मुख कमला की इच्छा-शक्ति की परीक्षा लेने का अभ्यस्त हो गया था। वह उसे खाना देती, आराम देती और झिड़कियां भी। लड़के की समझ में यह नहीं आता था कि उसकी मां उस अज्ञात स्थान के लिए वह 'थकान से चूर कर देने वाली यात्रा क्यों कर रही है, उस विचित्र आदमी के दर्शन करने के लिए जो कि एक महान आत्मा

था और मर रहा था। वह मर जाए, इससे उस लड़के को वास्ता ही क्या था?

यात्री लोग वासुदेव की नौका से बहुत दूर नहीं थे, जबकि तरुण सिद्धार्थ ने विश्राम करने के लिए कहा। कमला स्वयं भी थक चुकी थी और जबकि लड़का एक केला खा रहा था, वह स्वयं भूमि पर लेट गई, उसने अपनी आंखें आधी बंद कर लीं और आराम करने लगी। सहसा, वह पीड़ा से चीत्कार कर उठी। बालक घबराकर उसकी ओर मुड़ा और देखा कि भय से उसका मुंह सफेद पड़ गया है। उसके कपड़ों के नीचे से एक छोटा काला नाग, जिसने कमला को काट लिया था, खिसक कर दूर हो गया।

वे दोनों तेजी के साथ दौड़े ताकि किसी आदमी के पास पहुंच जाएं। जब वह नौका के निकट आ गए तो कमला गिर गई और एक कदम भी आगे बढ़ने में असमर्थ हो गई। बालक सहायता के लिए चिल्लाया और अपनी मां को अपने हृदय से लगाता और प्यार करता रहा। उसकी आवाज में मां ने भी अपनी आवाज मिलाई। आखिर वह आवाज नाव पर खड़े वासुदेव के कानों तक पहुंच गई। वह शीघ्रतापूर्वक उधर आया, स्त्री को अपनी बांहों में उठाया और नौका की ओर लेकर बढ़ गया। लड़का उसके साथ था, और वे दोनों शीघ्र ही झोंपड़ी में आ गए। सिद्धार्थ खड़ा था और आग जला रहा था। उसने सिर उठाकर देखा और लड़के का मुंह देखकर उसे किसी चीज की याद हो आई। तब उसने कमला को देखा जिसे उसने तत्काल पहचान लिया। हालांकि वह नाविक के हाथों में मूर्च्छित पड़ी हुई थी। तब उसने जाना कि वह उसका ही पुत्र है जिसे देखकर उसे किसी चीज की याद हो आई थी और उसके हृदय की गति तेज हो गई।

कमला का जख्म धो डाला गया, लेकिन वह पहले ही काला पड़ गया था और उसका शरीर फूल गया था। उसे होश में लाने वाली औषधि दी गई। उसे चेतना प्राप्त हो गई। वह सिद्धार्थ के बिस्तर पर लेटी हुई थी, उसकी झोंपड़ी में और सिद्धार्थ, जिसे उसने कभी इतना अधिक प्यार किया था, उसके ऊपर झुका हुआ था। उसने समझा, वह स्वप्न देख रही है, मुस्कराते हुए उसने अपने प्रेमी के मुंह की ओर देखा। शनैः-शनैः उसे अपनी स्थिति का आभास हो गया, उसे वह देश याद आ गया, और उसने अपने पुत्र को पुकारा।

'चिंता मत करो,' सिद्धार्थ ने कहा, 'वह यहीं है।'

कमला ने उसके नेत्रों में देखा, अपनी समस्त देह में विष की पीड़ा को लेकर वह बोलने में असमर्थ थी, 'तुम अब बूढ़े हो चले हो, प्रिय!', उसने कहा, 'और सफेद पड़ चुके हो, किंतु तुम आज भी उस तरुण श्रमण-जैसे ही हो, जो कभी मेरे उद्यान में आया था, निर्वसन और धूल-धूसरित पैर लेकर। जिस समय तुमने कामस्वामी और मुझे छोड़ा तब की अपेक्षा आज तुम्हारा सादृश्य उस श्रमण से बहुत अधिक है। तुम्हारे नेत्र उसी की तरह हैं, सिद्धार्थ! आह, अब मैं बूढ़ी हो चुकी हूं, बूढ़ी—क्या तुमने मुझे पहचान लिया?'

सिद्धार्थ मुस्कराया, 'मैंने तुम्हें तत्काल पहचान लिया था, कमला, प्रिय!'

कमला ने अपने पुत्र की ओर संकेत किया। 'क्या उसे भी पहचाना तुमने? यह तुम्हारा पुत्र है।'

उसकी आंखें घूम गईं और बंद हो गईं। बालक ने रोना आरंभ कर दिया। सिद्धार्थ ने उसे अपने घुटनों पर बैठा लिया, उसे रोते रहने दिया और खुद प्रेम से कमला के बाल सहलाता रहा। बच्चे की ओर देखकर उसे एक प्रार्थना याद आ गई, जबकि वह स्वयं एक छोटा बालक था, स्वयं उसने याद की थी। धीरे-धीरे गायन-स्वर में उसने वह प्रार्थना बोलनी प्रारंभ कर दी। अतीत और अपनी बाल्यावस्था से निकलकर शब्द उसके कंठ में आ गए। जब तक वह प्रार्थना का गायन करता रहा, बालक चुप रहा, वह अब भी हल्की-हल्की सुबकियां ले रहा था, थोड़ी देर में वह सो गया। सिद्धार्थ ने उसे वासुदेव के बिस्तर पर लिटा दिया। वासुदेव आतिशदान पर पकते हुए चावलों के निकट खड़ा सब देख रहा था। सिद्धार्थ ने जब उसकी ओर देखा तो वासुदेव उसकी ओर मुस्कराया।

'वह अब जा रही है,' सिद्धार्थ ने आहिस्ता से कहा।

वासुदेव ने सिर हिलाया। आतिशदान की अग्नि उसके दयार्द्र मुख-मंडल पर छविमान हो उठी।

कमला को पुनः चेतना आ गई थी। उसके मुख पर पीड़ा थी। सिद्धार्थ ने उसके मुख पर अंकित पीड़ा को परिलक्षित कर लिया। उसने धैर्यपूर्वक, ध्यानपूर्वक, प्रतीक्षा-भाव से उसकी पीड़ा में सम्मिलित होते हुए उसकी पीड़ा को पढ़ लिया। कमला यह जान चुकी थी, उसकी दृष्टि में यही याचना थी।

उसकी ओर देखते हुए उसने कहा, 'अब मैं देखती हूं कि तुम्हारी आंखें भी बदल चुकी हैं। वे पूर्णतः परिवर्तित हो चुकी हैं। मैं किस तरह पहचान रही हूं कि तुम अब वही सिद्धार्थ हो। तुम सिद्धार्थ हो और फिर भी सिद्धार्थ की तरह नहीं हो।'

और सिद्धार्थ बोला नहीं, वह चुपचाप उसकी आंखों में देखता रहा।

'क्या तुमने उसे प्राप्त कर लिया?'—उसने पूछा, 'क्या तुमने शांति प्राप्त कर ली?'

वह मुस्कराया और उसने अपना हाथ उसके हाथ पर रख दिया।

'हां', उसने कहा, 'मैं देख रही हूं। मैं भी अब शांति पा सकूंगी।'

'तुमने पा ली है,' सिद्धार्थ फुसफुसाया।

कमला ने दृढ़ता से उसकी ओर देखा। उसका उद्देश्य था गौतम के दर्शन करने के लिए तीर्थ यात्रा करने का, अर्हत का दिव्य मुखमंडल देखने का, उसकी शांति में से कुछ अंगीकार करने का और उसके बदले में उसने सिद्धार्थ को पाया था, और यह अच्छा था, ठीक उतना ही अच्छा, जितना कि दूसरे के दर्शन करना। वह उसे यह बताना चाहती थी, किंतु उसकी जिह्वा ने उसकी इच्छा का आदेश मानने में असमर्थता प्रकट कर दी। मौन भाव से उसने उसकी ओर देखा और सिद्धार्थ ने जाना कि उसकी आंखों में प्राण निःशेष हो रहे हैं। जब अंतिम पीड़ा उसके नेत्रों में भरकर समाप्त हो गई, जब अंतिम कंपन उसकी देह को आंदोलित कर चुका, तो उसकी अंगुलियों ने उसकी पलकें बंद कर दीं।

बहुत देर तक वह उसकी मृतक मुखाकृति की ओर देखता रहा, उसके वृद्ध अवसादपूर्ण मुख और सिकुड़े हुए होंठों को देखता रहा और उसे याद आया कि किस प्रकार यौवन के वसंत काल में, उसने उसके होंठों की तुलना ताजे कटे हुए अंजीर से की थी। बहुत देर तक वह एकटक उसके पीले चेहरे, थकानयुक्त सिकुड़नों की ओर देखता रहा, और उसे अपना मुख भी ठीक उसी प्रकार प्रतीत हुआ, ठीक उतना ही सफेद, मृतक भी, और साथ ही तरुण, अरुण-अधरों से संपन्न, अनुरागपूर्ण नेत्रों से युक्त। उसने उसका और अपना मुखमंडल भी देखा और वह वर्तमान, समवर्ती जीवन से सहसा अभिभूत हो उठा। इस क्षण में उसने प्रत्येक जीवन का अविनाशी स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म रूप में देखा। प्रत्येक क्षण की शाश्वतता उसके समक्ष पूर्णतः स्पष्ट हो गई।

जब वह उठा, वासुदेव ने थोड़ा चावल उसके लिए बना लिया था, किंतु उसने खाया नहीं। पशुशाला में, जहां बकरी बंधी हुई थी, दोनों वृद्धों ने कुछ फूंस फैला लिया और वासुदेव उस पर सो गया, लेकिन सिद्धार्थ नहीं सोया। सारी रात वह झोंपड़ी के सामने बैठा रहा और नदी को सुनता रहा, अपने अतीत में डूब गया, जीवन का प्रत्येक क्षण आवर्तित होता रहा और वह उससे यथावत प्रभावित होता रहा। तथापि, वह बार-बार उठकर झोंपड़ी के द्वार तक आता और कान लगाकर आहट लेता कि बालक की नींद खुल तो नहीं गई है।

नितांत प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व ही वासुदेव पशुशाला से उठकर आया और अपने मित्र के पास पहुंचा।

'तुम सोए नहीं हो,' उसने कहा।

'नहीं, वासुदेव, मैं यहां बैठकर नदी को सुनता रहा। उसने मुझे बहुत-कुछ बता दिया है, उसने मुझे अनेक विचारों से संपन्न कर दिया है, उसने मुझे एकता के विचारों से भर दिया है।

'तुमने बहुत दुख पाया है सिद्धार्थ! तथापि मैं देख रहा हूं कि तुम्हारे हृदय तक शोक का प्रवेश नहीं हो सका है।'

'नहीं, मेरे प्यारे मित्र! मैं दुखी क्यों होऊं? मैं, जो कि धनिक और सुखी था, अब और भी अधिक धनिक और सुखी हो गया हूं। मेरा पुत्र मुझे प्राप्त हो गया है।'

'मैं तुम्हारे पुत्र का भी स्वागत करता हूं। लेकिन, सिद्धार्थ अब हमें क्रिया संपन्न करनी चाहिए, अभी बहुत-कुछ करना बाकी है। कमला उसी बिस्तर पर मरी है, जहां मेरी पत्नी मरी थी, इसलिए हम कमला की चिता भी उसी पहाड़ी पर बनाएंगे, जहां मैंने कभी अपनी पत्नी की चिता बनाई थी।'

बालक सोता रहा, और उन दोनों ने चिता तैयार कर ली। ❖

—अनुवाद : महावीर अधिकारी

सरोजकुमार की कविताएं

साफ-साफ कह दो

प्रभु,
तुम मुझसे कह दो
कि तुम मुझसे खुश नहीं हो!
तुम्हारी नाराजी से डर कर
शायद मैं सुधर जाऊं!

मैं तुम पर
बहुत आश्रित होता जा रहा हूं
अकर्मण्यता की सीमा तक!
तुम मुझसे साफ-साफ कह दो
कि तुम मेरी सहायता
बिल्कुल नहीं करोगे!

तुम मेरे साथ हो
मुझे कैसी भी विपदा से बचा लोगे
मेरा यह विश्वास
खतरनाक है,
यह मुझे कमजोर बनाता है
और विधर्मी भी

प्रभु,
तुम मुझे दृढ़ता से बता दो
कि जैसा मैं करूंगा
वैसा ही भरूंगा!

नाममात्र को भी
तुम मेरे
कवच और कमाण्डो नहीं हो!
अपनी रक्षा का दायित्व
एकमात्र मुझ पर है!

कह दो प्रभु,
साफ-साफ कह दो!
कुछ ऐसी
निर्मम शैली में कह दो
कि मैं विश्वास कर सकूं
कि सारे संसार का स्वामी
विपत्ति में भी
मेरे किसी काम का नहीं है!

●

निर्माल्य

मां के कहे अनुसार
मंदिर में मैंने चावल चढ़ाए,
वे पुजारी की हंडी में चले गए!
पिता के कहने पर
नारियल चढ़ाए,
वे बिकने को मंडी में चले गए!

प्रभु, मैं चरणों में ऐसा क्या चढ़ाऊं
जो ऐसा चढ़े
कि कभी उतर नहीं पाए!
जिसके चढ़ जाने से
मैं ही चढ़ जाऊं कुछ ऊपर!

चावल पवित्र होते हैं
नारियल मंगल-मंडित हैं,
निर्माल्य निर्मल होना चाहिए!

प्रभु,
क्या मैं स्वयं को चढ़ा पाऊंगा कभी
निर्माल्य सदृश?
बना पाऊंगा अपने को
चढ़ा देने योग्य?
निर्मल? ❖❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कोलकाता
संबोधन अलंकरण समारोह

श्रद्धेय आचार्यप्रवर जिन श्रावक-श्राविकाओं को उनकी जीवनगत श्रेष्ठताओं के आधार पर विशेष संबोधनों से संबोधित करते हैं, उनको जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा प्रतिवर्ष मर्यादा महोत्सव के अवसर पर पूज्यप्रवरों की पावन सन्निधि में आयोजित विशेष कार्यक्रम में अलंकरण प्रदान कर सम्मानित करती है। उक्त अवसर पर महासभा द्वारा अलंकरण प्राप्त श्रावक-श्राविकाओं की सचित्र परिचय पुस्तिका भी प्रकाशित की जाती है।

संबोधन अलंकरण समारोह आगामी गंगाशहर मर्यादा महोत्सव के अवसर पर दिनांक 23 जनवरी, 2007 को पूज्यवरों के पावन सान्निध्य में आयोजित है। इस अवसर पर एक मिलन गोष्ठी का आयोजन दिनांक 22 जनवरी को सायंकाल किया जा रहा है। सभी संबोधन प्राप्तकर्ता महानुभाव एवं परिवारजन से उपरोक्त समायोजन में सहभागिता हेतु सादर निवेदन। जनवरी, 2006 से दिसंबर, 2006 तक संबोधन प्राप्त श्रावक-श्राविकाओं अथवा उनके पारिवारिक जनों से सादर निवेदन है कि अब तक जिन्होंने परिचय एवं फोटो महासभा कार्यालय में प्रेषित नहीं किया है तो परिचय, दो फोटो सहित, यथाशीघ्र महासभा प्रधान कार्यालय, कोलकाता के पते पर प्रेषित करने की व्यवस्था करें। अब तक प्राप्त जानकारी के अनुसार संबोधन प्राप्त श्रावक-श्राविकागण की सूची निम्नांकित है—

राजकरन सिरोहिया
अध्यक्ष

भंवरलाल सिंघी
संयोजक

तरुण सेठिया
महामंत्री

क्र.सं.	नाम	उपनाम	स्थान	संबोधन
1.	श्री अनोपचंद	बोथरा	बीकानेर	शासनसेवी
2.	स्व. अमोलकचंदजी	दूगड़	कानपुर	शासनसेवी
3.	श्री कानमल	संचेती	हैदराबाद	शासनसेवी
4.	श्री जयचंदलाल	संचेती	मोमासर	शासनसेवी
5.	स्व. जुगराजजी	मुथा	औरंगाबाद	शासनसेवी
6.	स्व. जेठमलजी	भंसाली	श्रीडूंगरगढ़	शासनसेवी
7.	श्री जेवंतराज	सुराणा	हैदराबाद	शासनसेवी
8.	श्री थानेदार रघुवीरचंद	जैन	धूरी	शासनसेवी
9.	श्री देवराज	नाहर	बैंगलोर	शासनसेवी
10.	श्री धर्मचंद	राखेचा	कोलकाता	शासनसेवी
11.	श्री पदम	जैन	सिरसा	शासनसेवी
12.	श्री बंशीलाल	सुराणा	लुधियाना	शासनसेवी
13.	श्री भंवरलाल	सिंघी	कोलकाता	शासनसेवी
14.	श्री भीखमचंद	नखत	टमकोर	शासनसेवी
15.	श्री मूलचंद	पारख	ऊटकमंड	शासनसेवी

क्र.सं.	नाम	उपनाम	स्थान	संबोधन
16.	श्री रतनलाल	दफ्तरी	पटियाला	शासनसेवी
17.	श्री रमेश	धाकड़	मुंबई	शासनसेवी
18.	स्व. रिद्धकरणजी	बांठिया	पीलीबंगा	शासनसेवी
19.	स्व. रूपचंदजी	श्रीश्रीमाल	बालोतरा	शासनसेवी
20.	श्री सुरेंद्र	चोरड़िया	कोलकाता	शासनसेवी
21.	श्री हसमुखभाई	मेहता	मुंबई	शासनसेवी
22.	स्व. शोभाचन्दजी	सुराणा	कोलकाता	शासनसेवी
23.	स्व. मंगलचंदजी	बरमेचा	तारानगर	दृढ़धर्मी श्रावक
24.	स्व. सुमेरमलजी	बैद	फॉरबिसगंज	तपोनिष्ठ श्रावक
25.	स्व. भूरामलजी	सामर	सायन कोलीवाड़ा	समाधिनिष्ठ श्रावक
26.	स्व. अमृतलालजी	गुप्ता	जगराओं	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
27.	श्री अरविंदभाई केशवलाल	पारिख	वाव	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
28.	स्व. आसकरणजी	पारख	श्रीडूंगरगढ़	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
29.	श्री इंद्रचंद	बैद	बैकुंटपुर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
30.	श्री ओमप्रकाश	जैन	अहमदाबाद	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
31.	स्व. ओमप्रकाशजी	जैन	लुधियाना	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
32.	स्व. कस्तूरचन्दजी	बरमेचा	तारानगर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
33.	श्री कानमल	सेठिया	कानपुर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
34.	श्री गुलाबचंद	सिंघवी	मेड़तासिटी	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
35.	श्री घीसूलाल	नाहर		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
36.	श्री चंद्रभान	चूड़ियाल	धुलिया	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
37.	श्री चंपालाल	मरलेचा	पूना	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
38.	स्व. चाननमलजी	सावनसुखा	फाजिल्का	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
39.	स्व. छबीलदासजी	जैन	हिसार	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
40.	श्री छोटेलाल	जैन	भिवानी	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
41.	श्री जगदीश	उमरिया	मुंबई	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
42.	श्री जीवनमल	बैद	भागलपुर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
43.	स्व. जीवराजजी	डागा	श्रीडूंगरगढ़	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
44.	श्री झूमरमल	सुराणा	हैदराबाद	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
45.	स्व. डालमचंदजी	बैंगानी	बीदासर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
46.	श्री डूंगरमल	भंसाली	जसोल	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
47.	स्व. डूंगरमलजी	कोठारी	सादुलपुर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
48.	स्व. ताराचंदजी	सुराणा	कोलकाता	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
49.	श्री तिलकराज	जैन	जगराओं	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
50.	स्व. दयारामजी	जीरावला	कोप्पल	श्रद्धानिष्ठ श्रावक

क्र.सं.	नाम	उपनाम	स्थान	संबोधन
51.	स्व. दयालीरामजी	चौधरी	धूरी	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
52.	श्री दयासागर	मौजकर	बीड़	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
53.	स्व. दुलीचंदजी	छाजेड़	बालोतरा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
54.	स्व. धीरजमलजी	सेठिया	तिरुवन्नामलै	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
55.	श्री नंदकुमार	जैन	हिसार	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
56.	श्री निरंजनलाल	जैन	टोहना	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
57.	श्री निरंजनलाल	जैन	भिवानी	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
58.	स्व. नेमीचंदजी	चोरड़िया	गंगाशहर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
59.	स्व. नोरतनमलजी	सुराना	तारानगर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
60.	स्व. पारसमलजी	मेड़तवाल	उधना	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
61.	श्री पारसमल	डोसी	बैंगलोर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
62.	स्व. पूनमचंदजी	जैन	दिल्ली	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
63.	श्री पूनमचंद	जैन	रोहतक	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
64.	स्व. प्रकाशचंदजी	जैन	रतिया	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
65.	स्व. प्रकाशचंदजी	जैन	हांसी	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
66.	श्री प्रेमचंद	कोठारी	बैंगलोर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
67.	श्री प्रेमनाथ	जैन	संगरूर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
68.	स्व. भंवरलालजी	बच्छावत	चाड़वास	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
69.	स्व. भंवरलालजी	गन्ना	बैंगलोर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
70.	स्व. भंवरलालजी	बैद	लाडनूं	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
71.	स्व. मणिभाई	संघवी	वाव	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
72.	श्री मनसुखभाई	मोदी	भाभर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
73.	श्री मांगीलाल	बोरदिया	उज्जैन	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
74.	स्व. मांगीलालजी	बरलोटा	रायपुर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
75.	स्व. मालचंदजी	मालू	सादुलपुर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
76.	स्व. मूलचंदजी	भंसाली	लाडनूं	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
77.	स्व. मोतीलालजी	बोहरा	चैन्नई	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
78.	श्री मोहनलाल	बरमेचा	तारानगर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
79.	स्व. मोहनलालजी	छाजेड़	आड़सर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
80.	स्व. रंगलालजी	कोठारी	ज्ञानगढ़	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
81.	डॉ. रतनचंद	जैन	मुंबई	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
82.	स्व. राजकरणजी	लुणिया	सरदारशहर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
83.	श्री राजमल	डूंगरवाल	मुंबई	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
84.	स्व. रामनिवासजी	जैन	हांसी	श्रद्धानिष्ठ श्रावक

क्र.सं.	नाम	उपनाम	स्थान	संबोधन
85.	स्व. रामविलासजी	जैन	उचाना	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
86.	श्री रायचंद	भंसाली	जसोल	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
87.	स्व. रोशनलालजी	मेड़तवाल	राजाजी का करेड़ा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
88.	श्री लादूलाल	श्रीश्रीमाल	मुंबई	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
89.	स्व. लाला मखनलालजी	जैन	जगराओं	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
90.	स्व. लाला माडूरामजी	जैन	नरवाना	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
91.	स्व. लाला रतिरामजी	जैन	कैथल	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
92.	स्व. लाला लछमनदासजी	जैन	जगराओं	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
93.	स्व. लाला शिवनारायणजी	जैन	भटिंडा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
94.	लाला सूरजभान	जैन	उचाना	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
95.	लाला हरिचरण	जैन	पंचकुला	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
96.	स्व. लालारामजी	जैन	संगरूर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
97.	श्री वाडीभाई	मेहता	वाव-भुज	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
98.	स्व. विजयराजजी	सेठिया	तिरुवन्नामलै	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
99.	श्री शंकरलाल	ढेलड़िया	जसोल	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
100.	स्व. शांतिलालजी	सीसोदिया	रायपुर-भीलवाड़ा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
101.	स्व. शांतिलालजी	खटेड़	लाडनूं	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
102.	श्री शुभकरण	दूगड़	कानपुर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
103.	स्व. शुभकरणजी	बेगवानी	तेजपुर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
104.	स्व. श्रीचंदजी	दूगड़	चूरू	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
105.	श्री सज्जनकुमार	जैन	दिल्ली	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
106.	स्व. संपतराजजी	सेठिया	तिरुवन्नामलै	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
107.	स्व. सुपारसमलजी	बैद	लाडनूं	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
108.	श्री सुरेश	जैन	हांसी	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
109.	श्री सोहनराज	कटारिया	बैंगलोर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
110.	लाला हरिचंद	जैन	धूरी	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
111.	श्री हिम्मतभाई भोगीलाल	मेहता	वाव	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
112.	श्री हुलासमल	पुगलिया	श्रीडूंगरगढ़	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
113.	श्री गौरव	जैन	भिवानी	सेवानिष्ठ कार्यकर्ता
114.	श्री विकास	जैन	भिवानी	सेवानिष्ठ कार्यकर्ता
115.	श्री अशोक	जैन	भिवानी	सेवानिष्ठ श्रावक
116.	श्री एस.के.	जैन	रोहतक	कल्याण मित्र
117.	डॉ. कांति	सामसुखा	दिल्ली	कल्याण मित्र
118.	श्री कालीचरण	केसान	भिवानी	कल्याण मित्र

क्र.सं.	नाम	उपनाम	स्थान	संबोधन
119.	श्री नरेश	जैन	दिल्ली	कल्याण मित्र
120.	स्व. नवरत्नमलजी	सुराणा	पड़िहारा	कल्याण मित्र
121.	डॉ. मीनाक्षी	सामसुखा	दिल्ली	कल्याण मित्र
122.	श्री मुकुलभाई	झवेरी	मुंबई	कल्याण मित्र
123.	श्री रतनलाल	जैन	भिवानी	कल्याण मित्र
124.	श्री रमेशचन्द्र	मादरेचा	मुंबई	कल्याण मित्र
125.	श्री राजकुमार	चपलोत	मुंबई	कल्याण मित्र
126.	श्री रामकुमार	भाटिया	भिवानी	कल्याण मित्र
127.	श्री रामभजन	अग्रवाल	भिवानी	कल्याण मित्र
128.	श्री शांतिलाल	कोठारी	मुंबई	कल्याण मित्र
129.	श्री शिवरतन	गुप्ता	भिवानी	कल्याण मित्र
130.	श्री संतोष	गुप्ता	भिवानी	कल्याण मित्र
131.	श्रीमती संतोष	जैन	रोहतक	कल्याण मित्र
132.	श्री सुरेंद्रकुमार	जैन (एडवोकेट)	भिवानी	कल्याण मित्र
133.	श्री सोहनलाल	सिंघवी	मुंबई	कल्याण मित्र
134.	स्व. बाधूदेवी	बरड़िया	भीनासर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
135.	श्रीमती अणचीबाई	सुराणा	विल्लीपुरम	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
136.	स्व. इंद्रादेवी	बैद	मुंबई	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
137.	स्व. इलायचीदेवी	जैन	हांसी	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
138.	श्रीमती ईसरोदेवी	चाची	धूरी	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
139.	श्रीमती कंचनदेवी	दूगड़	जोधपुर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
140.	स्व. कमलादेवी	सेठिया	मोमासर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
141.	श्रीमती कमलादेवी	सीसोदिया	रायपुर-भीलवाड़ा	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
142.	स्व. किरणदेवी	नाहटा	बीदासर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
143.	श्रीमती गन्नीदेवी	सेठिया		श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
144.	स्व. गुलाबदेवी	दुधोड़िया	कोलकाता	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
145.	श्रीमती घीसीबाई	धोका	हॉसकोट	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
146.	स्व. चंद्रकला	समदड़िया	बीड़	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
147.	श्रीमती चूकीदेवी	भंसाली	जसोल	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
148.	स्व. जीवनीदेवी	जैन	हिसार	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
149.	स्व. ज्ञानीदेवी	जैन	हिसार	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
150.	स्व. छगनीदेवी	बरमेचा	तारानगर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
151.	स्व. झणकारदेवी	बैद	अहमदाबाद	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
152.	श्रीमती झमकूदेवी	भंसाली	जसोल	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति

क्र.सं.	नाम	उपनाम	स्थान	संबोधन
153.	श्रीमती दर्शना	जैन	भिवानी	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
154.	स्व. धनीदेवी	बरड़िया	छापर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
155.	श्रीमती पानादेवी	जैन	टकोरियावाला	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
156.	स्व. पार्वतीदेवी	नौलखा	सूरतगढ़	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
157.	स्व. पार्वतीदेवी	जैन	हिसार	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
158.	स्व. फूलकंवर	दूगड़		श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
159.	श्रीमती बदामबाई	सेठिया	बैंगलोर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
160.	स्व. बरजीदेवी	डागा	कोलकाता	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
161.	श्रीमती भंवरीदेवी	संकलेचा	जसोल	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
162.	स्व. भंवरीदेवी	गोलछा	लाडनूं	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
163.	स्व. मधुलतादेवी	छाजेड़	अहमदाबाद	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
164.	स्व. मनफूलीदेवी	डागा	बीदासर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
165.	स्व. माणकदेवी	आंचलिया	गंगाशहर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
166.	श्रीमती मोहनीदेवी	जैन	भिवानी	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
167.	श्रीमती रायकंवरीदेवी	सिंघी	बीदासर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
168.	श्रीमती रेशम	जैन	जयपुर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
169.	श्रीमती लक्ष्मीदेवी	जैन	हांसी	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
170.	स्व. लीलादेवी	दूगड़	ब्यावर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
171.	श्रीमती लीलावतीदेवी	जैन	भिवानी	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
172.	श्रीमती लूणीदेवी	बोथरा	बीकानेर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
173.	श्रीमती विमलादेवी	जैन	धूरी	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
174.	श्रीमती शारदा	झुनझुनवाला	कोलकाता	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
175.	श्रीमती संतोष	चोरड़िया	कोलकाता	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
176.	श्रीमती सज्जनदेवी	पीपाड़ा	उज्जैन	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
177.	श्रीमती सिरुवंतीदेवी	जैन	सुनाम	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
178.	श्रीमती सुंदरदेवी	भंसाली	जसोल	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
179.	स्व. सूरजदेवी	बंबोरी	इंदौर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति

अधिक जानकारी हेतु निम्नलिखित पते एवं फोन नंबरों पर संपर्क कर सकते हैं—

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001

फोन नं. (033) 22357956, 22343598 • फैक्स नं. (033) 22343666, मोबाइल नंबर : 9831218218

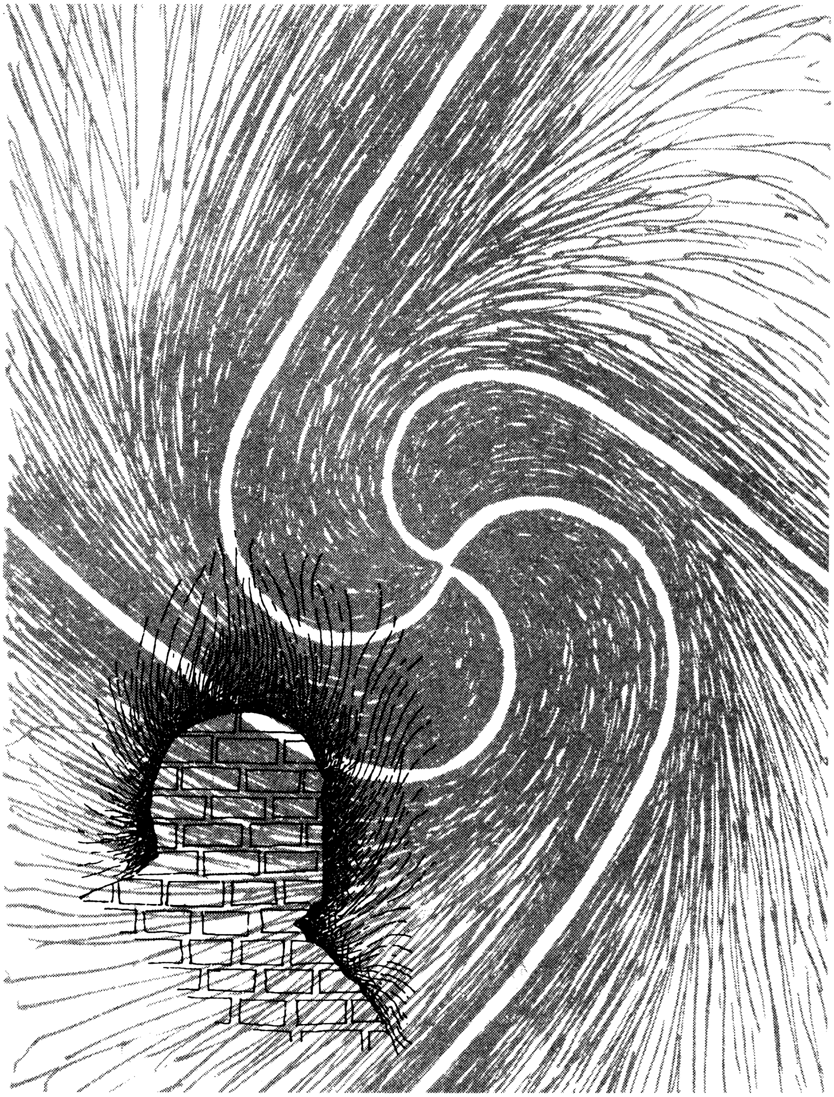

शीलन

व्यक्ति के लिए धन और शौर्य प्राप्त करने की पूरी स्वाधीनता है, पर उसका उपयोग समाज और राष्ट्र के हित के लिए होना चाहिए, भोग-विलास अथवा निर्बलों पर प्रभुत्व जमाने के लिए नहीं। 'अहिंसा परमोधर्मः' और 'वसुधैव कुटुंबकम्'—ये दो सूत्र हमारी संस्कृति के मूल तत्त्व हैं और इस अधोवस्था में हम उन्हें अपनाए हुए हैं। यद्यपि अनेक कारणों से उस संस्कृति का रूप विकृत हो गया है, उसमें असंख्य बुराइयां घुस गई हैं, यहां तक कि अब उसका रूप पहचाना नहीं जा सकता, फिर भी ये तत्त्व प्रकाश-स्तंभों की भांति अब भी प्रतिकूल दशाओं का सामना करते हुए खड़े हैं। बहुत-कुछ खो चुकने पर भी, अब तक हममें जो-कुछ रह गया है, वह उन्हीं प्रकाश-स्तंभों का प्रसाद है। अन्यथा अब तक हमारी नौका न जाने कब की भंवर में पड़कर डूब चुकी होती। इस कथन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि हमारे जीवन का उद्देश्य प्रभुत्व की प्राप्ति नहीं, बल्कि परमार्थ-संचय है। हमारे जीवन का आदर्श स्वार्थ की अंधी उपासना नहीं, संसार की निधि को समेटकर अपनी थैली में भर लेना नहीं, वरन संसार में इस तरह रहना है कि हमसे किसी को हानि न हो, किसी को कष्ट न हो, किसी का गला न दबे।

—मुंशी प्रेमचंद

पदाभिरोहण पर विशेष

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि

साध्वी विश्रुतविभा

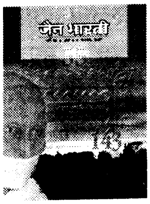

महर्षि चरक पक्षी का रूप धारण कर एक वृक्ष पर आसीन थे। उसी मार्ग से वैद्यों का एक काफिला गुजर रहा था। पक्षी ने अपनी आवाज में प्रश्न किया—'कोऽरुक्? कोऽरुक्?'—स्वस्थ कौन है? वैद्यों ने उसे पक्षी की आवाज समझ कर उपेक्षा कर दी। महर्षि चरक ने सोचा—संभवतः ये मेरी भाषा को समझ नहीं पा रहे हैं, अथवा जान-बूझकर इस बात की उपेक्षा कर रहे हैं।

कुछ क्षणों बाद यही पक्षी उस वृक्ष से उड़ कर दूसरे वृक्ष पर बैठ गया। संयोगवश उसी मार्ग से वाग्भट्ट प्रस्थान कर रहे थे। पक्षी ने फिर अपना वही प्रश्न दोहराया—'कोऽरुक्? कोऽरुक्'। वाग्भट्ट विद्वान थे। वे समझ गए कि यह पक्षी नहीं, महर्षि चरक हैं। उन्होंने उत्तर दिया—स्वस्थ वह है जो हित भोजन करता है, मित भोजन करता है और ऋत भोजन करता है।

हमारे सम्मुख 87 वर्ष की अवस्था में भी स्वस्थता का अनुभव करने वाले एक महामना हैं। इनका नाम है—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी। उनका आहार भी हित, मित और ऋत की ही परिक्रमा करता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी हितकारी आहार ग्रहण करते हैं। जो स्वस्थता के अनुकूल होता है, वैसा ही खाते हैं। आहार के विषय में उनका चिंतन बहुत ही स्पष्ट है। वे इस तथ्य से पूरी तरह अभिज्ञ हैं कि आहार के द्वारा ही शरीर के अवयवों का पोषण होता है। इसलिए वे वही भोजन ग्रहण करते हैं जिससे मस्तिष्क शक्तिशाली हो, हृदय पुष्ट हो तथा लीवर और →

मुनि नथमल से युवाचार्य महाप्रज्ञ और फिर आचार्य पद पर प्रतिष्ठित इस महनीय व्यक्तित्व का दीक्षा दिवस 28 जनवरी और आचार्य पदाभिरोहण दिवस 24 जनवरी इसी माह में है। नत्थु से मुनि नथमल और फिर प्रख्यात दार्शनिक-मनीषी व एक धर्मसंघ के अधिष्ठाता के रूप में आज जन-जन उनके प्रति श्रद्धानत है। अपनी वय के नौवें दशक में भी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अविराम और अनथक रूप से सक्रिय हैं। उनकी इस सक्रियता का रहस्य क्या है? पदाभिरोहण और दीक्षा दिवस पर स्पष्ट कर रही हैं साध्वी विश्रुतविभा इस आलेख में—

योग की सिद्धि न अति-आहार से होती है और न अनाहार से। योग के लिए अपेक्षित है—संतुलित आहार। अतिमात्रा में आहार करने वाले व्यक्ति के योग सिद्ध नहीं होता। उसकी शक्ति तो भोजन को पचाने में ही खर्च हो जाती है। भोजन का सर्वथा वर्जन करने वाला व्यक्ति भी सिद्धि का वरण नहीं कर सकता। क्योंकि भोजन के अभाव में पोषक तत्त्व नहीं मिलते। इससे शरीर दुर्बल हो जाता है। दुर्बल शरीर में महान शक्ति का अवतरण नहीं हो सकता। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने आहार और अनाहार में संतुलन साधा है। इसीलिए वे साधना के राजपथ पर निरंतर अग्रसर हैं।

आंतों को अधिक श्रम न करना पड़े। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अपनी पुस्तक **आहार और अध्यात्म** में लिखते हैं—हितकारी भोजन को आंतें सरलता से ग्रहण करती हैं तथा अपने कार्यों को सुचारु रूप से संपादित करती हैं। दुष्पाच्य भोजन को ग्रहण करने पर उन्हें अतिरिक्त श्रम करना पड़ता है। उसे पचाती हुई वे थक जाती हैं। इसलिए अनुभवविदों का यह अभिमत रहा—शरीर के लिए भोजन जितना जरूरी है, उससे अधिक जरूरी है आहार का संयम। अति-आहार स्वास्थ्य की सबसे बड़ी बाधा है। साधु का आहार सात्त्विक और सीमित होना चाहिए। मिताहार का प्रयोग साधना की पृष्ठभूमि है। इसके द्वारा ही साधक साधना की अग्रिम भूमिकाओं में आरोहण करता है। उत्तराध्ययन सूत्र में साधक को विशेष मार्गदर्शन देते हुए लिखा गया है—

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं,
समाहिकामे समणे तवस्सी।।

आहार क्यों?

समाधि के इच्छुक तपस्वी, श्रमण को आहार का चुनाव सोच-समझ कर करना चाहिए। उसके आहार का आदर्श मितभोजन होना चाहिए। इस संदर्भ में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी बहुत जागरूक हैं। वे अपने आहार में सीमित द्रव्यों का प्रयोग करते हैं तथा उन द्रव्यों की मात्रा भी सीमित होती है। उनके अनुसार अधिक ठूंस-ठूंस कर किया जाने वाला आहार शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक विकास में बाधा पहुंचाता है। शरीर विज्ञान के अनुसार अधिक खाने से रक्त का संचार उदर की ओर अधिक प्रवाहित होता है। ऐसी स्थिति में मस्तिष्क में पर्याप्त मात्रा में रक्त नहीं पहुंच पाता, जिससे वह यथेष्ट कार्य नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति को दिमाग स्वस्थ रखना है, मस्तिष्क से काम करना है, उन्हें मित आहार का प्रयोग करना चाहिए। आहार क्यों? इस प्रश्न को उत्तरित करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने लिखा है—

शक्तेर्वृद्धिः क्षतेः पूर्तिः, विजातीयस्य निर्गमः।
लाघवश्च प्रसादश्च, भोजने परिवीक्ष्यताम्।।

शक्ति की वृद्धि, क्षति की पूर्ति, विजातीय का निर्गमन, लघुता और प्रसन्नता—इन पांचों की उपलब्धि जिस आहार से होती है, वह आहार श्रेष्ठ है।

आयुर्वेद के अनुसार आहार का एक दोष भी है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इसके प्रति अत्यधिक सतर्क हैं। एक आहार के बाद दूसरा आहार, अथवा कोई भी तरह का पदार्थ लेने से पूर्व उनकी दृष्टि प्रायः घड़ी की ओर जाती है। बहुत बार वे पूछ लेते हैं—आहार किए कितना समय हो गया है? जब यह ज्ञात हो जाता है कि पर्याप्त समय व्यतीत हो गया है, तभी दूसरा आहार ग्रहण करते हैं। उसके मध्य कुछ भी ग्रहण नहीं करते।

आहार : एक साधना

आयुर्वेद में एक सूक्त का उल्लेख हुआ है— **तन्मना भुञ्जीत**—अर्थात् आहार करते समय मन आहार में ही रहे। इधर-उधर भ्रमण न करे। यह भी ध्यान का ही एक प्रयोग है। 'केवल खाना'—एक साधना है। आहार करते समय चिंतन करना, कल्पना करना, गप-शप करना, भविष्य की योजना बनाना उचित नहीं है। केवल खाएं, मन खाने में ही लगा रहे। तभी साधना सिद्धि के द्वार पर दस्तक देती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी भोजन को भी साधना का एक अंग मानते हैं। इसीलिए प्रायः देखा है कि वे जब आहार करते हैं तो उनका ध्यान आहार में ही रहता है। इसी एकाग्रता की साधना का परिणाम ही मानना चाहिए कि वे अल्प आहार से ही आत्मतुष्टि का अनुभव करते हैं। आहार के समय जो द्रव्य उनके सामने आते हैं, उनमें से अल्पमात्रा में ग्रहण करते हैं। कभी-कभी तो ऐसा भी प्रतीत होता है कि पात्र में से कुछ लिया है या नहीं? उत्तराध्ययन सूत्र की टीका में बहुत मार्मिक गाथा है—

अच्चाहारो न सहे, अतिनिद्धेण विसया उदिज्जंति।
जायामायाहारो तं पि पगामं ण भुंजामि।।

मैं अति-आहार नहीं करता हूं, अति-स्निग्ध आहार से विषय उद्दीप्त होते हैं, इसलिए उनका भी सेवन नहीं करता हूं। संयमी जीवन की यात्रा चलाने के लिए खाता हूं। वह भी अतिमात्रा में नहीं खाता।

यह संभावना की जा सकती है कि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के सामने भी यह गाथा आदर्श रूप में है। अपने जीवन में इस गाथा का उन्होंने अनुसरण किया है—यह लगता है।

महत्त्व संतुलित आहार का

आहार का संबंध ऋतुओं के साथ जुड़ा है। कौन-सी ऋतु में कौन-सा आहार करना चाहिए—इसका विशद वर्णन उपलब्ध होता है। सामान्यतया गर्मी, सर्दी और वर्षा-ऋतु में अलग-अलग प्रकार का आहार किया जाता है।

ऋतु-जनित आहार-विवेक के साथ आचार्यश्री महाप्रज्ञजी संतुलित आहार पर बहुत बल देते हैं। वे कई बार कहते हैं—साधक को प्रतिदिन प्रणीत, स्निग्ध अथवा गरिष्ठ आहार नहीं करना चाहिए और प्रतिदिन रुक्ष आहार भी नहीं करना चाहिए। यदि वह प्रतिदिन रुक्ष भोजन करेगा तो बार-बार प्रस्रवण होगा, उससे स्वाध्याय में विघ्न पैदा होगा तथा नियमतः रुक्ष भोजन क्रोध को बढ़ाने में सहयोगी बनेगा। इसलिए साधक एकांततः रुक्ष भोजन न करें। रुक्ष भोजन के साथ स्निग्ध आहार भी जरूरी है। यदि भोजन स्निग्ध नहीं होगा तो बुद्धि कमजोर हो जाएगी, शारीरिक शक्ति क्षीण होती जाएगी, फलतः स्वाध्याय और ध्यान में बाधाएं पैदा होंगी। इसलिए साधक को स्निग्ध और रुक्ष आहार में संतुलन रखना चाहिए। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी स्निग्ध और रुक्ष आहार का केवल उपदेश ही नहीं देते, अपितु उसका अपने जीवन में प्रयोग भी करते हैं।

आधुनिक पोषणशास्त्र के अनुसार भोजन में क्षारीय और अम्लीय तत्त्वों का समावेश होना चाहिए। अस्सी प्रतिशत क्षारीय तत्त्व और बीस प्रतिशत अम्लीय तत्त्व—यह संतुलित भोजन की व्यवस्था है। अम्लीय तत्त्व ऋणात्मक हैं और क्षारीय तत्त्व धनात्मक हैं। दोनों शक्तियां हैं, दोनों शरीर के लिए जरूरी हैं। शरीर के लिए अम्लीय तत्त्व की भी आवश्यकता है। उसका अधिक मात्रा में शरीर में जमाव न हो, उसका उत्सर्जन हो, इसके लिए क्षारीय तत्त्व का आसेवन भी जरूरी है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अपने आहार में क्षारीय और अम्लीय तत्त्वों का पूरा विवेक रखते हैं।

वर्तमान पीढ़ी संतुलित भोजन के प्रति अपेक्षाकृत कम जागरूक है। सामान्यतः उनके भोजन का मापदण्ड है—स्वाद। उसके लिए वे चटपटी खाद्य सामग्री का उपयोग करते हैं। ऋतु के अनुसार भोजन करने का विवेक भी कम दृष्टिगोचर होता है। वक्त-बेवक्त गरम, ठंडा आहार लेने से उन्हें परहेज नहीं है। वे कंपकंपाती सर्दी में आइसक्रीम का बड़े मजे से आस्वाद लेते हैं और भयंकर गर्मी में कचौरी, पकौड़े आदि बड़े शौक से खाते हैं। गेहूं का चोकर भी स्वास्थ्य के लिए उपयोगी है—उनके चिंतन के क्षितिज से यह बहुत दूर है। उनके सामने खाने का उद्देश्य भी स्पष्ट नहीं है। क्या खाएं और क्यों खाएं—यह विवेक जब तक स्पष्ट नहीं होता, तब तक स्वास्थ्य और साधना का विकास नहीं हो सकता।

दूसरी ओर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के भोजन का उद्देश्य है—संयम-जीवन का निर्वाह करने के लिए शरीर को भाड़ा देना। उद्देश्य की स्पष्टता होने पर स्वाद की बात बहुत पीछे रह जाती है।

आत्मा किराएदार है

एक दिन का प्रसंग है। आहार का समय। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की सन्निधि में पांच बालमुनि भी आहार कर रहे थे। आचार्यवर ने बालमुनियों से पूछा—हम आहार क्यों करते हैं? बालमुनियों के मौन-भाव और प्रश्नायित मुद्रा को देखकर आचार्यवर ने फरमाया—'जिस मकान में किराएदार रहता है वह मकान का भाड़ा चुकाता है। क्योंकि वह मकान उसका अपना नहीं है। वैसे ही आत्मा के लिए यह शरीर अपना घर नहीं है। आत्मा शरीर में रहती है, किराएदार बनकर रहती है। इसीलिए एक साधु शरीर को भाड़ा देने मात्र के लिए आहार करता है। इसलिए आहार करते समय आसक्ति भाव नहीं होना चाहिए। बल्कि यह भावधारा सदैव प्रवाहित होनी चाहिए कि हम शरीर को भाड़ा देने के लिए आहार कर रहे हैं।' प्रणत भाव से बालमुनियों ने पूज्यपाद से सहज ही एक प्रशिक्षण प्राप्त कर लिया। सही संबोध प्राप्त कर उनके चेहरे पुलक उठे।

स्वाद : अस्वाद—कुछ प्रयोग

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी दीर्घकालीन तपस्या नहीं करते। अधिक उपवास भी नहीं करते, किंतु आहार के प्रति उनका दृष्टिकोण अनासक्त है। स्वादविजय की दृष्टि से वे अनेक प्रयोग करते हैं। इस सचाई को उनके परिपार्श्व में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है।

नमक भोजन का अपरिहार्य अंग है। कुछ लोग भोजन करते समय ऊपर से भी नमक लेते हैं। नमक रहित भोजन में कोई स्वाद भी नहीं होता। जबकि अतिमात्रा में नमक का सेवन उच्च रक्तचाप और गुर्दे की बीमारी को आमंत्रित करता है। इस सचाई को जानते हुए भी लोग इसके सेवन से परहेज नहीं रखते। वस्तुतः नमक का वर्जन करना साधना का एक प्रयोग है, स्वास्थ्य का भी प्रयोग है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी बहुत वर्षों से सप्ताह में एक दिन प्रति रविवार को नमक का सेवन नहीं करते। 'आज रविवार है'—यह याद दिलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि रविवार उनकी स्मृति से कभी ओझल होता ही नहीं है। रविवार के सिवाय अन्य दिनों में भी यदि किसी व्यंजन में नमक नहीं हो, तब भी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। यदा-कदा मुखारविंद से ये शब्द ही

निःसृत होते हैं—'भोजन में नमक है या नहीं, कोई फर्क नहीं पड़ता। यह अनुभव ही नहीं होता कि आज कुछ नीरस भोजन कर रहा हूं।'

अस्वाद का दूसरा प्रयोग है चीनी का वर्जन। शरीर के लिए नमक ही नहीं, चीनी भी आवश्यक है। दूध सहज मीठा होता है, फिर भी आम आदमी आदतन उसमें चीनी मिलाता है। जबकि अधिक चीनी से अम्लता बढ़ती है। आचार्यश्री अपने आहार में चीनी युक्त पदार्थों का बहुत सीमित मात्रा में प्रयोग करते हैं। किसी भी पदार्थ में ऊपर से चीनी मिलाने की तो शायद वे कभी कल्पना भी नहीं करते।

अस्वाद का तीसरा प्रयोग है—रोटी और शाक का अलग-अलग प्रयोग करना। दोनों को पृथक-पृथक खाने का अर्थ है—अस्वाद का प्रयोग। आचार्यवर ने अपने जीवन में लंबे समय तक यह प्रयोग किया है। इस प्रयोग से स्वतः ही खाने की मात्रा में कमी आ गई।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि

वस्तुतः जिस व्यक्ति ने जिह्वा के संयम को साध लिया, स्वाद पर विजय प्राप्त कर ली—वही व्यक्ति मनसा, वाचा, कायसा स्वस्थ रह सकता है तथा अपने मस्तिष्क को भी संतुलित एवं सक्रिय रख सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने जिह्वा संयम को साधा है, स्वाद पर विजय पाई है, इसलिए जिंदगी के नवम दशक में भी वे स्वस्थ और प्रसन्न नजर आते हैं और उनके मस्तिष्क की सक्रियता भी उत्तरोत्तर वृद्धिंगत हो रही है। छांदोग्योपनिषद् का यह सूक्त उनके जीवन में अक्षरशः घटित हो रहा है—**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः।**

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी योगसिद्ध महापुरुष हैं। उनकी सिद्धि का एक रहस्य आहार-विवेक में खोजा जा सकता है। गीता का बहुत हृदयस्पर्शी सूक्त है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः

योग की सिद्धि न अति-आहार से होती है और न अनाहार से। योग के लिए अपेक्षित है—संतुलित आहार। अतिमात्रा में आहार करने वाले व्यक्ति के योग सिद्ध नहीं होता। उसकी शक्ति तो भोजन को पचाने में ही खर्च हो जाती है। भोजन का सर्वथा वर्जन करने वाला व्यक्ति भी सिद्धि का वरण नहीं कर सकता। क्योंकि भोजन के अभाव में पोषक तत्त्व नहीं मिलते। इससे शरीर दुर्बल हो जाता है। दुर्बल शरीर में महान शक्ति का अवतरण नहीं हो सकता। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने आहार और अनाहार में संतुलन साधा है। इसीलिए वे साधना के राजपथ पर निरंतर अग्रसर हैं।

एक नई क्रांति

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इस तथ्य को अनेक बार बताते हैं कि आहार का संबंध हमारे भीतरी रसायनों के साथ है। व्यक्ति जैसा आहार करता है, वैसे ही उसके रसायन बनते हैं। विज्ञान भी इसकी पुष्टि करता है कि रसायनों के अनुसार ही हमारा आचरण निर्धारित होता है। आचार की पृष्ठभूमि पर विचार का बीज उगता है और विचार के अनुसार व्यवहार के फूल खिलते हैं।

आहार व्यक्तित्व निर्माण का एक प्रमुख घटक तत्त्व है। इसीलिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी स्वयं आहार के प्रति सतत जागरूक हैं और जन-जन में आहार के प्रति सम्यक् चेतना जगाने के लिए प्रयत्नशील भी हैं। आहार विज्ञान का उनका संबोध यदि सब में संप्रेषित हो जाए तो एक नई क्रांति घटित हो सकती है। ❖

जीवन में सारा महत्त्व कर्म का है और कर्म केवल संभव दायरे में किया जा सकता है। असंभव दायरे में कर्म करना कभी संभव नहीं होता। जब आप संभव दायरे में अपना कर्म शुरू करें तो इसका मतलब यह होता है कि आप अपनी व्यावहारिक शक्तियों को वहां लगा रहे हैं जहां उन शक्तियों को बेहतर रूप से लगाना संभव है। ऐसी मेहनत कभी-न-कभी अपना परिणाम देकर रहती है।

इसके विपरीत जब आप समस्याओं से उलझें, तो इसका मतलब यह होता है कि आप अपनी क्रियात्मक शक्तियों को वहां लगा रहे हैं जहां क्रियान्वयन के बावजूद कोई नतीजा पाना सम्भव नहीं। ऐसी मेहनत के लिए यही निश्चित है कि वह बिना किसी लाभ के व्यर्थ होकर रह जाए।

समस्याएं स्वयं में कोई चीज नहीं, असल ध्यान देने की चीज़ तो अवसर है। अवसर में ध्यान लगा कर और मेहनत करके आप भविष्य में अपनी समस्याओं पर भी काबू पा लेते हैं। लेकिन अगर समस्याओं में उलझे रहें तो दोनों में से कोई चीज आपको मिलने वाली नहीं।

—मौलाना वहीदुद्दीन ख़ाँ

गणोऽयमहमेवास्मि अहमेव गणोऽस्त्ययम्

समणी सत्यप्रज्ञा

कामनाओं की शून्यता से साधक साधना में अविचल बन जाता है और अपने जीवन के अंधकार को प्रकाश में परिवर्तित कर देता है। संघ में साधक न केवल स्वयं प्रकाशित होता है, अपितु सैकड़ों-सैकड़ों साधकों के जीवन-दीप को प्रकाश से पूरित करता है। श्रुत और चारित्र धर्म का प्रकाश फैलाने वाला यह संघ-दीप दूसरे दीपों को जलाकर निरंतर प्रकाश को प्रवर्धमान ही करता है, कभी हीयमान नहीं। व्यक्ति-व्यक्ति का विकास ही संघ का विकास है। इस दृष्टि से ज्ञान, दर्शन, चारित्र की दिशा में दीप से दीप जलाने का कार्य संघ में ही संभव है।

जीवन क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया कि हमारी सफलताओं और विफलताओं का तलपट ही जीवन है। जीवन की सफलता और सार्थकता क्या है? इस प्रश्न पर विचार करें तो प्रतीत होता है कि जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है—सम्यक् दृष्टि को प्राप्त कर लेना, चक्षुष्मान बन जाना, सम्यक् दृष्टि उपलब्ध कर लेना। जब व्यक्ति सम्यक् दृष्टि उपलब्ध कर लेता है, प्रकृति के नियमों की सचाई को जान लेता है तो दुनिया के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है, जबकि दुनिया यही रहती है। इसी सचाई की ओर इंगित करते हुए कहा गया—

जे समदृष्टि जीवड़ा करै कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तर स्यूं न्यारा रहे ज्यूं धाय खिलावे बाल।।

चक्षुष्मान संसार में रहते हैं, लेकिन संसार उनमें नहीं रहता।

साधना के क्षेत्र में एक साधक जब प्रवेश पाना चाहता है तो प्रवेश-द्वार पर ही उसे एक प्रेरणा, एक पाथेय मिलता है—'गण में रहूं निरदाव अकेलो'। यह एक सूक्त उसकी सफल जीवन यात्रा का आधार बन जाता है। निर्लिप्तता का यह उद्‌बोधन जीवनगत हो जाए तो साधना और साध्य, दोनों प्राप्त हो सकते हैं। यदि ऐसा नहीं है, तो बाहर ही बाहर चक्कर लगाते रहें, साधना के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकते।

शिष्य ने जब यह सुना तो जिज्ञासा होना सहज था—'भंते! यह कैसे? दो विरोधी बातें एक साथ कैसे घटित हो सकती हैं? गण है तो अकेले क्यों? और अकेले हैं तो गण क्यों?'

यदि संघ को ही स्वीकार करना है तो परिवार भी एक संघ है, समाज भी एक संघ है। तब सामान्य समाज-व्यवस्था से ऊपर उठकर किसी नई व्यवस्था से जुड़ने का औचित्य क्या? कोई भी व्यक्ति साधना की दिशा में अपने जीवन को प्रस्तुत कर सकता है। वह जंगल में जाकर साधना कर सकता है। गुफा में, पहाड़ों पर या किसी भी एकांत स्थाम पर जाकर साधना कर सकता है, फिर संघ में क्यों रहे?

गुरु को शिष्य की जिज्ञासा उचित लगी। उसे समाहित करते हुए

स्पष्ट किया गया—साधना के क्रम को दो स्तर से देखा जा सकता है—1. जिनकल्पी की साधना, 2. स्थविरकल्पी की साधना।

जिनकल्पी की साधना अप्रतिबद्धता की साधना है। वे जैसे चाहें, जिस रूप में चाहें—अपनी शक्ति के अनुरूप साधना के क्षेत्र में विहरण करें। अप्रतिबद्ध साधना की दृष्टि से जिनकल्पी की साधना को पूरी तरह **अप्पाणं शरणं गच्छामि** का रूप दिया जा सकता है। इस दृष्टि से उन्हें विशेष भी कहा जा सकता है, पर सबके लिए यह सहज नहीं है।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि की बात जहां भी आती है, वहां संघ की अनिवार्यता भी जुड़ जाती है। अप्रतिबद्धता की स्थिति में एक दीप तो जल सकता है, पर सहस्रों दीप प्रज्वलित करने की बात संघबद्धता में ही घटित हो सकती है। एक निष्कंप दीप को जलते रहने के लिए भी अचंचल वायु वाले स्थान की अपेक्षा होती है, ठीक उसी तरह सहस्रों दीपों के लिए भी उसी के अनुरूप क्षेत्र की अपेक्षा रहती है।

मर्यादा, अनुशासन और व्यवस्था संघ की सुदृढ़ दीवारें हैं और स्वस्थ आचरण इसका आधार है। इसमें रहकर कोई भी व्यक्ति विकास की अमाप्य ऊंचाइयों को प्राप्त कर सकता है। छत पर पहुंचने के लिए जैसे सोपान की उपयोगिता है, वैसे ही स्थविरकल्पी का साधना क्रम जिनकल्पी की अवस्था तक पहुंचने में सोपान का काम करता है। **संघं शरणं गच्छामि**—सोपान है, **अप्पाणं शरणं गच्छामि** तक पहुंचने का। दोनों का अपना-अपना मूल्य है। दोनों अपनी-अपनी अपेक्षा से महर्द्धिक हैं, अधिक महत्त्व रखते हैं।

संघ और व्यक्ति अन्योन्याश्रित हैं। दोनों में परस्पर अंतःक्रिया का संबंध बना हुआ है। वृहत्कल्प भाष्य में इस संबंध को उपमानों के माध्यम से इस प्रकार बताया गया है—

संघ एक दीपक

साधक साधना में अविचल बनना चाहता है। शून्यगृह में रखा हुआ दीप निर्विघ्न रूप से जलता हुआ अप्रकंप रह कर अंधकार को प्रकाश में बदल देता है। कामनाओं की शून्यता से साधक साधना में अविचल बन जाता है और अपने जीवन के अंधकार को प्रकाश में परिवर्तित कर देता है। संघ में साधक न केवल स्वयं प्रकाशित होता है, अपितु सैकड़ों-सैकड़ों साधकों के जीवन-दीप को प्रकाश से पूरित करता है। श्रुत और चारित्र धर्म का प्रकाश फैलाने वाला यह संघ-दीप दूसरे दीपों को जलाकर निरंतर प्रकाश को प्रवर्धमान ही करता है, कभी हीयमान नहीं। व्यक्ति-व्यक्ति का विकास ही संघ का विकास है। इस दृष्टि से ज्ञान, दर्शन, चारित्र की दिशा में दीप से दीप जलाने का कार्य संघ में ही संभव है।

संघ एक माता

जैसे माता स्वयं अनेक कष्ट सह कर भी अपनी संतान को सुख प्रदान करना चाहती है, ठीक इसी तरह संघ एक माता के समान अपने एक-एक सदस्य की सारणा-वारणा करता है। व्यक्ति-हित की चिंता यहां व्यक्ति नहीं, संघ करता है। जैसे माता अनेक तरह के कार्यों में व्यस्त रहती है, लेकिन उसका ध्यान निरंतर अपने नन्हे शिशु की ओर ही रहता है। यहां तक कि नींद में भी बच्चे के रोने का स्वर सुनकर वह तुरंत जाग जाती है। इसी तरह संघ भी अनेक विधाओं, अनेक कार्यक्रमों, अनेक गतिविधियों को अपने साथ लेकर चलता है, लेकिन इन सबके केंद्र में पूरी-पूरी जागरूकता रहती है—व्यक्ति-हित की ओर, व्यक्तित्व-विकास की ओर। कहा जा सकता है कि व्यक्ति की उपयोगिता को महत्ता प्रदान करने वाला वस्तुतः संघ ही है।

संघ एक गुफा

जैसे जंगल में सिंह सर्वशक्तिमान प्राणी है। उसकी शक्ति को किसी सहारे की अपेक्षा नहीं। पर, जब तक सिंह-शावक छोटा रहता है, वह अपनी सुरक्षा के लिए गुफा का उपयोग करता है, अन्यथा जंगली भैंसे और व्याघ्र उसे किसी भी रूप में क्षति पहुंचा सकते हैं। सिंह-शिशु के लिए गुफा ही उसका रक्षा कवच है। ठीक इसी तरह व्यक्ति स्वयं शक्तिशाली है, लेकिन जब तक उसकी विवेक-चेतना पूरी तरह से जाग्रत नहीं हो जाती, साधना में तल्लीनता और तन्मयता नहीं आ जाती, तब तक चित्त की चपलता बनी रहती है, प्रमाद और मिथ्यात्वादि की लहरें उठती रहती हैं और इनके रहते मन का श्रेयस से विपथ में बहना भी संभव है। प्रमाद और चंचलता उन खूंखार जंगली जानवरों की तरह ही हैं जो साधक के संयमी जीवन को उजाड़ देते हैं। उस गुफा के रूप में ही एक साधक के लिए संघ सुरक्षा कवच है, त्राण है, आश्वासन है, विश्वास है और प्राण है।

शेष पृष्ठ 58 पर

अनुभव का फल

चित्रा मुद्गल

एक बार की बात है। गिरिपुष्पित नगर के राजा उग्रसेन ने कोशांबी पर चढ़ाई कर दी। राजकुमार आदित्य ने नया-नया राजकाज संभाला था। राज्य पर अचानक हुए आक्रमण से वह घबरा उठा। उसकी समझ में नहीं आया कि इस संकट का सामना वह किस प्रकार करे, ताकि राज्य की सुरक्षा पर आंच न आए।

उसके प्रिय मित्र सूर्यदेव ने सलाह दी—'तुमने कभी कोई लड़ाई नहीं लड़ी। इसलिए युद्धभूमि की रणनीति का तुम्हें कोई ज्ञान नहीं है। अच्छा होगा कि तुम राज्य की सुरक्षा का पूरा दायित्व अपने बुजुर्ग सेनापति मणिभद्र पर छोड़ दो। वे अनेकों युद्ध कर चुके हैं। वृद्ध हैं, अनुभवी हैं। उग्रसेन को पछाड़ कर वे पीछे धकेल सकते हैं।'

राजकुमार आदित्य को सूर्यदेव की सलाह उचित लगी। उसने फौरन सेनापति मणिभद्र को बुलवाया और कहा—'सेनापतिजी! जैसे भी हो, उग्रसेन को ऐसा सबक सिखाइए कि आइंदा वह हमारे राज्य की ओर आंख न उठा सके।'

सेनापति मणिभद्र बोले—'उग्रसेन पुराना घाघ है। उसकी बड़ी पुरानी इच्छा है कि कोशांबी को वह किसी प्रकार हथिया सके। आपके स्वर्गीय पिता महाराजा अनिरुद्ध ने उसकी यह इच्छा कभी पूरी नहीं होने दी। लेकिन, वह मौके की ताक में ही था। उसने सोचा होगा कि युवराज अभी राजकाज में कच्चे हैं। सुअवसर है, चढ़ाई कर दो, विजय हमारी होगी। किंतु वह भ्रम में है। कोशांबी को हथियाना इतना आसान नहीं है। हम ऐसी व्यूह-रचना करेंगे कि शत्रु हमारे चंगुल में अपने-आप फंस जाएगा और बुरी तरह मात खाएगा।'

राजकुमार के चेहरे पर रौनक लौट आई। उसने मणिभद्र से कहा—'मुझे आपकी शक्ति और बुद्धि पर पूरा भरोसा है। लेकिन, एक अनुरोध है कि आप तुरंत एक आपात बैठक बुलाएं और सेना के युवा सैनिक अधिकारियों से भी इस विषय पर बातचीत कर लें। हो सकता है, उनकी राय भी उपयोगी सिद्ध हो।'

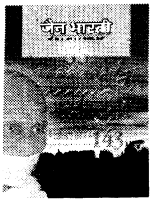

लगातार लड़ाई और लंबी यात्रा से सैनिक काफी थक गए थे। राजकुमार ने महसूस किया और एक जंगल में विश्राम के लिए पड़ाव डाल दिया। कुछ दिन आराम से गुजर गए। एकाएक उस जंगल में पानी का संकट पैदा हो गया। जिस तालाब के सामने सेना ने पड़ाव डाल रखा था, पता नहीं, किन्हीं कारणों से उसका पानी सूखने लगा और बचा-खुचा कीचड़ में बदल गया। अब पीने के पानी की समस्या खड़ी हो गई। सैनिक पानी की खोज में इधर-उधर दौड़ने लगे। पर मीलों तक उन्हें न कोई तालाब दिखा, न नदी। लोग व्याकुल हो उठे। राजकुमार चिंतित हो उठा।

सेनापति मणिभद्र को राजकुमार का प्रस्ताव ठीक लगा। उन्होंने उसी रात युवा सैनिक अधिकारियों की एक आपात बैठक बुलाई। उनके सामने अपनी योजना रख दी कि वे किस प्रकार शत्रु से मुकाबला करने की सोच रहे हैं।

बैठक में अच्छी-खासी बहस हुई। युवा सैनिक अधिकारियों को सेनापति मणिभद्र की व्यूह-रचना पसंद नहीं आई। उनका कहना था कि लड़ाई के ये तौर-तरीके अब बहुत पुराने हो चुके हैं। शत्रु इतनी आसानी से हाथ नहीं आने वाला।

'तो क्या होना चाहिए?'—सेनापति मणिभद्र ने तनिक रुष्ट होकर पूछा।

एक युवा सैनिक अधिकारी अनंतदेव ने उत्तर दिया—'तीनों ओर से एक साथ आक्रमण करना ठीक होगा। पहले उत्तर-पश्चिम दिशा की ओर भयंकर मोर्चा खोला जाए। ताकि शत्रु का सारा ध्यान इसी मोर्चे पर केंद्रित हो जाए। फिर मौका देखकर रातों-रात उसे तीनों ओर से घेर लिया जाए।'

सेनापति मणिभद्र अनंतदेव के तर्क पर हंस पड़े और बोले—'कैसी नादानों जैसी बातें कर रहे हो तुम! युद्ध में शत्रु को कभी सोचने का मौका नहीं देना चाहिए। अगर हमने उसे सोचने का मौका दिया तो वह सावधान हो जाएगा। फिर समझ लो हमारी हार निश्चित है....।'

सेनापति का तर्क अनंतदेव के गले नहीं उतरा। उसे बराबर लगता रहा कि सेनापति मणिभद्र गलत योजना बनाए बैठे हैं। बैठक खत्म होते ही वह सीधा राजकुमार के पास पहुंचा और उनसे अपनी शंका कह सुनाई। राजकुमार को भी अनंतदेव की ही बात उचित लगी, किंतु उन्होंने अनंतदेव से यही कहा—'मणिभद्र सेनापति हैं, अनुभवी हैं। जो भी आदेश दें, वही करो।' —अनंतदेव बेचारा मन मार कर रह गया।

शत्रु की सेना के साथ हफ्तों घमासान युद्ध चलता रहा। सेनापति मणिभद्र जी-जान से लड़ते रहे। लेकिन, वे हार गए और बंदी बना लिए गए। देखते-देखते कोशांबी पर राजा उग्रसेन का अधिकार हो गया।

दुखी राजकुमार ने बचे-खुचे सैनिकों के साथ रातों-रात राज्य छोड़ दिया। और वह एक घने जंगल में जा छिपा। अनंतदेव राजकुमार के साथ था। उसने राजकुमार को ढाढ़स बंधाया कि वह हिम्मत न हारे। शीघ्र ही वह नई सेना गठित करेगा और कोशांबी पर आक्रमण कर शत्रु को राज्य से बाहर खदेड़ देगा। अनंतदेव राज्य की हालत से बहुत दुखी था।

राजकुमार ने अपने प्रिय मित्र सूर्यदेव से नाता तोड़ लिया। राज्य छिनने के लिए वह सूर्यदेव को ही सबसे ज्यादा दोषी मानता था, क्योंकि उसी ने वृद्ध सेनापति पर राज्य की सुरक्षा का भार सौंपने की सलाह दी थी।

अनंतदेव के प्रयत्नों से धीरे-धीरे राजकुमार का मन स्वस्थ होने लगा। अब दोनों मिलकर राज्य को शत्रु के चंगुल से छुड़ाने की युक्ति सोचने लगे। दोनों ने निश्चय किया कि वे भेस बदल कर कोशांबी की गुप्त यात्रा करेंगे। वहां के युवकों से भेंट करेंगे। उन्हें समझाएंगे कि शत्रु के शासन में चाहे जितनी सुख-सुविधा प्राप्त हो, हैं तो वे गुलाम! क्या वे अपने ही राज्य में गुलाम बनकर रहना पसंद करेंगे?

उनकी बातों का युवकों पर अच्छा असर हुआ। उनमें चेतना जागी। उन्होंने राजकुमार का साथ देने का निश्चय किया। वे हर रोज रात को गुप्त रूप से जंगल में एकत्र होते। राजकुमार और अनंतदेव उन्हें अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा देते। सुबह होने से पहले ही वे सब घरों में आकर इस प्रकार सो रहते जैसे कि रात में कहीं गए ही न हों। उग्रसेन के सैनिकों से बचाव के लिए उन्होंने ठीक उन सैनिकों जैसी ही पोशाकें सिलवा ली थीं, ताकि सैनिक इसी भ्रम में रहें कि वे उन्हीं के पक्ष के हैं और वे बेरोक-टोक यहां-वहां आ-जा सकें।

जब अनेक युवक शस्त्रविद्या में निपुण हो गए तब राजकुमार और अनंतदेव ने कोशांबी पर चढ़ाई करने का निश्चय किया। कोशांबी के सारे गुप्त रास्ते उन्हें पता ही थे। सबसे अच्छी बात यह थी कि राज्य की सीमा से लगी छोटी-सी नदी के किनारे पर एक सुरंग थी जो भीतर ही भीतर राजमहल तक जाती थी, जिसका उपयोग कर राजकुमार शत्रुओं से बच कर निकल सकता था। शत्रुओं को उस गुप्त सुरंग के बारे में बिल्कुल पता नहीं था।

यह तय हुआ कि राजकुमार सैनिकों की एक टुकड़ी के साथ सुरंग के रास्ते से राजमहल पर आक्रमण करेगा। अनंतदेव बाहर से और सैनिकों की एक टुकड़ी गिरिपुष्पित राज्य के उन रास्तों की नाके-बंदी कर देगी जिनसे होकर कोशांबी को सैनिक सहायता भेजी जा सकती थी।

सारी तैयारी पूरी होते ही एक रात उन्होंने कोशांबी पर आक्रमण कर दिया। कोशांबी का प्रशासक इस अचानक हमले के लिए तैयार नहीं था। अनंतदेव ने कुशलता से युद्ध का संचालन किया और उग्रसेन की सेना को बुरी तरह कुचल कर रख दिया। उग्रसेन के पास जब तक हमले की सूचना पहुंची तब तक तो कोशांबी पर पुनः राजकुमार आदित्य का राज्य स्थापित हो चुका था। उग्रसेन के पास अब कोई उपाय शेष नहीं बचा था। वह असहाय-सा महसूस करने लगा।

दूसरी ओर पूरे राज्य में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। बड़ी धूम-धाम से राजकुमार ने अनंतदेव को राज्य का सेनापति नियुक्त किया और अपने एक बुद्धिमान युवक सहयोगी अभयराज को महामंत्री। राजकुमार ने एक भी वृद्ध को महत्त्वपूर्ण पद पर नहीं रखा, बल्कि पूरे राज्य में घोषणा करवा दी कि राज्य को संकट में डालने के लिए सेनापति मणिभद्र को देश निकाले की सजा दी गई है। जो भी व्यक्ति उन्हें अपने घर पर शरण देगा, वह भी दंड का भागी बनेगा।

राजकाज आनंदपूर्वक चलने लगा। कुछ दिनों बाद राजकुमार आदित्य ने दिग्विजय करने का निश्चय किया। वह अपनी शक्तिशाली सेना लेकर विजय यात्रा पर निकल पड़ा। निर्विघ्न आस-पास के राज्यों को अपने अधीन करता हुआ वह आगे बढ़ता रहा।

लगातार लड़ाई और लंबी यात्रा से सैनिक काफी थक गए थे। राजकुमार ने महसूस किया और एक जंगल में विश्राम के लिए पड़ाव डाल दिया। कुछ दिन आराम से गुजर गए। एकाएक उस जंगल में पानी का संकट पैदा हो गया। जिस तालाब के सामने सेना ने पड़ाव डाल रखा था, पता नहीं, किन्हीं कारणों से उसका पानी सूखने लगा और बचा-खुचा कीचड़ में बदल गया। अब पीने के पानी की समस्या खड़ी हो गई। सैनिक पानी की खोज में इधर-उधर दौड़ने लगे। पर मीलों तक उन्हें न कोई तालाब दिखा, न नदी। लोग व्याकुल हो उठे। राजकुमार चिंतित हो उठा।

हार कर राजकुमार ने कहा, जो भी इस समस्या का समाधान खोज लेगा उसे वे पुरस्कृत करेंगे। किसी ने कुछ कहा, तो किसी ने कुछ। मगर उससे बात बनती नजर नहीं आई। एक तरुण सैनिक ने कहा—'महाराज अभयदान दें तो मैं एक सलाह दूं।'

'निःसंकोच होकर बोलो,'—राजा ने तरुण सैनिक को आश्वस्त किया।

वह बोला—'महाराज। अगर हमारे बीच कोई वृद्ध पुरुष होता तो वह चुटकियों में समस्या हल कर देता।'

वृद्ध का उल्लेख सुनकर राजकुमार का पारा चढ़ने को हो आया, किंतु संकट की इस घड़ी में उसने अपने को संयत बनाए रखकर उस तरुण सैनिक से पूछा—'कैसे?'

'अपने अनुभव और बुद्धि से'—तरुण सैनिक ने उत्तर दिया।

राजकुमार उसके विश्वास पर हंस पड़ा और बोला—'चलो तुम्हारा विश्वास भी आजमा लें। लेकिन, अगर तुम्हारी बात सच न हुई तो तुम्हें दंड के रूप में तीन वर्ष का कारागार भुगतना पड़ेगा।'

तरुण सैनिक ने निर्भीक होकर कहा—'आप का निर्णय सिर-माथे पर।'

राजकुमार ने पूरे जंगल में डोंडी पिटवा दी। सैनिकों को आगाह भी कर दिया कि जहां कहीं भी उन्हें कोई वृद्ध पुरुष दिखाई दे, उसे फौरन ले आएं।

सैनिक दूसरे दिन सुबह एक फटेहाल वृद्ध को जबरन पकड़ कर राजकुमार के सामने ले आए।

राजकुमार ने उस वृद्ध से पूछा—'कहिए, पानी कहां मिलेगा?'

वृद्ध ने कहा—'नदी, तालाब में।'

राजा ने कहा—'नदी-तालाब इस जंगल में कहीं नहीं हैं। जो एक तालाब है, वह सूखा पड़ा है। अब बताओ।'

वृद्ध ने उत्तर दिया—'जहां पर चरते हुए गधे भूमि को सूंघते मिलें, उसी भूमि के गर्भ में पानी की धारा होगी।'

राजा ने तुरंत सैनिकों को एक गधा खोज लाने का आदेश दिया। घंटे-भर बाद सैनिक जंगल से एक गधा पकड़ कर ले आए।

वृद्ध के कथनानुसार गधे को जंगल में छोड़ दिया गया। सैनिकों से कहा गया कि वे गधे पर मुस्तैदी से निगरानी रखें।

कुछ समय बाद सैनिकों ने राजकुमार को सूचना दी कि गधा अमुक स्थान पर चरते हुए भूमि सूंघ रहा है।

वृद्ध समेत राजकुमार घोड़े पर सवार हो उस स्थान पर पहुंचा। उसने तत्काल सैनिकों को उस स्थान पर खुदाई का आदेश दिया। सैनिकों ने भूमि को अभी थोड़ा ही खोदा था कि सहसा तेजी से पानी की धारा फूट पड़ी।

राजकुमार यह चमत्कार देख विस्मित हो उठा। उसने राहत की सांस ली। एक बहुत बड़ा संकट इस वृद्ध के कारण टल गया था। सैनिक भी प्रसन्नता से उछल पड़े।

राजकुमार ने तरुण सैनिक को पुरस्कार में हीरों की अमूल्य माला दी और वृद्ध का आभार मानते हुए कहा—'आपने अपने अनुभव और बुद्धि से वृद्धों की श्रेष्ठता के विषय में मेरी धारणा ही बदल दी है। मैं चाहता हूं आप मेरे साथ मेरे राज्य में चलें और सुखपूर्वक रहें।'

वृद्ध ने कहा—'राजकुमार साहब! मैं आपके साथ नहीं चल सकता।'

'क्यों?'—राजकुमार ने अचरज से पूछा।

वृद्ध ने मुस्कराकर उत्तर दिया—'मुझे कोशांबी से देश निकाले का दंड मिला है।'

वृद्ध के कथन पर राजकुमार संशकित हो उठा—'आप....?'

'मैं आपका पदच्युत सेनापति मणिभद्र हूं, जिसकी गलत रणनीति के कारण आपको पराजय का मुख देखना पड़ा।'

राजकुमार चौंक पड़ा और पछतावे से भर उठा। उसने मणिभद्र से क्षमायाचना की और कहा—'पराजय ने मेरे मन को विचलित कर दिया था। मैं भूल ही गया था कि युद्ध में हार-जीत अपने वश में नहीं होती....मुझे क्षमा करें और कोशांबी चलें। कोशांबी को आप जैसे अनुभवी वृद्ध के मार्गदर्शन और ज्ञान की बहुत जरूरत है।' ❖

गणोऽयमहमेवास्मि : अहमेव गणोऽस्त्ययम् पृष्ठ 54 का शेष

संघ—सवत्सा गौ

जैसे सवत्सा गाय आगे बढ़ती है, पर पीछे मुड़-मुड़ कर बछड़े को भी देखती रहती है। अचानक भय या अन्य कोई परिस्थिति आ जाने पर वह दौड़ती भी है, लेकिन ध्यान पीछे रहता है कि बछड़ा आ रहा है या नहीं। अपनी सुरक्षा से अधिक उसे बछड़े की सुरक्षा का ध्यान है। संघ भी गति करता है, विकास की यात्रा करता है, लेकिन अकेला नहीं। ऐसा नहीं कि एक अकेला आगे और आगे दौड़ लगाता रहे और बहुत-कुछ पीछे ही छूट जाए। पुनरावलोकन निरंतर चलता रहता है और वस्तुतः व्यक्ति-व्यक्ति की शक्ति ही संघ की शक्ति है। व्यक्ति और समष्टि के बीच कोई विशेष भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती।

जिज्ञासु शिष्य को समाधान मिल गया। व्यक्ति और संघ के संबंध को जानकर उसे विश्वास का उजास मिल गया और वह कह उठा—**गणोऽयमहमेवास्मि, अहमेव गणोऽस्त्ययम्**—यह गण मैं हूं, मैं ही यह गण है—इस सचाई के आलोक में हम कह सकते हैं कि मर्यादा और अनुशासन के आधार पर टिके धर्मसंघ की शरण में कोई भी व्यक्ति आत्मानुशासन के असीम आकाश में विहरण कर सकता है।

'गण में रहूं निरदाव अकेलो'—सूक्त को जीवन की प्राण-वायु बनाया जा सकता है। मर्यादा, विधि-विधान और व्यवस्थित आचार-संहिता के आधारस्तंभ पर टिका संघ रूपी सुदृढ़ प्रासाद निश्चिंतता की छत प्रदान करता है, विश्वास और आत्मविश्वास की दीवारें प्रदान करता है, अनुशासन और संयम की खिड़कियां प्रदान करता है। इसकी सुखद छांव में व्यक्ति निरंतर जीवन को जीवंतता देने की दिशा में पुरुषार्थ करता रहे—इसी में सार्थकता है। ❖

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

हार्दिक मंगल कामना

एक शुभ चिन्तक

प्रेषण दिनांक 4 जनवरी, 07
जैन भारती, जनवरी, 2007 भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/06-08

Om Araham

Jai Bhikṣhu *Jai Tulsi* *Jai Mahapragya*

SILVER JUBILEE YEAR 1981-2006

SAYAR DEVI DHANMULL SOWCAR EDUCATIONAL TRUST

SRI V.D.S. JAIN HR. SEC. SCHOOL
Gandhi Nagar, Tiruvannamalai, Tamilnadu

We are happy to celebrate Silver Jubilee Year 2006-2007 during the month of January 2007.

D. Dharmichand Sowcar
Managing Trustee & Correspondent
Sayar Devi Dhanmull Sowcar Educational Trust
TIRUVANNAMALAI 606601
Tamilnadu
Ph. : 04175-222756

Trust Members

V. Pavun Kumar
S. Rajendira Kumar
D. Vasanth Kumar
S. Raj Kumar
D.V. Sudarsan
D. Sreehans Kumar
VDS. D. Gowtham Kumar
VDS. D. Mahaveer
VDS. D. Aravinth Kumar

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।